# रातरानी

सर्वोच्च अखिल भारतीय
'कालिदास-पुरस्कार'-प्राप्त नाटक

# रातरानी

लक्ष्मीनारायण लाल

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
(स्वत्वाधिकारी : के० एल० मलिक ऐंड संस प्रा० लि०)
२३, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२

शाखाएं
चौड़ा रास्ता, जयपुर
३४, नेताजी सुभाष मार्ग, इलाहाबाद-३

अभिनय-प्रदर्शन, अनुवाद और फिल्मीकरण आदि के लिए लेखक की लिखित पूर्व-अनुमति आवश्यक है।

मूल्य : ५.००

स्वत्वाधिकारी के० एल० मलिक ऐंड संस प्रा० लि० के लिए नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली-११०००२ द्वारा प्रकाशित / छठा संस्करण : १९८० / सर्वाधिकार : लक्ष्मीनारायण लाल / सरस्वती प्रिंटिंग प्रेस, मौजपुर, दिल्ली-११००५३ में मुद्रित।

RAATRANI (Drama) by LAKSHMINARAYAN LAL

# आधुनिक रंगमंच

आधुनिक रंगमंच कहते ही आधुनिक यथार्थवाद सामने आता है और आधुनिक यथार्थ हमारे युग के मनोरंजन-क्षेत्र में कितना व्यापक और महत् हो गया, इससे सभी परिचित हैं। विज्ञान-युग की दो महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों 'कैमरा' और 'रेडियो' ने हमारे यथार्थ की अपार झाँकियों में सत्य चित्र, स्वरूप तथा मानव-समाज की यथार्थ बोली—प्रकृति के, जीव-जन्तु-जगत् के सत्य स्वर के साथ—हमारे सम्मुख रख दी है।

मानव मनोरंजन-जगत् में फिल्म (कैमरा) अपनी इस यथार्थवादी कला में निरन्तर विकसित होती जा रही है। इस माध्यम से जीवन अपने समग्र रूप में, अपनी समूची प्रकृति के साथ, सभी वातावरण के बीच में अपने समस्त रंगों में उजागर हो रहा है। इसकी तुलना में आधुनिक रंगमंच अपने नाट्य माध्यम से जीवन का जितना चित्र, जितना अंश और रूप दर्शक-पाठक के सामने रख पाता है, वह फिल्म के सामने कितना सीमित और न्यून है! शायद इसीलिए इस यथार्थवादी रंगमंच से, इसकी सुगठित, नाट्य-परम्परा (वेलमेड) से पिरेन्देलो, ब्रेख्ट, टी० एस० इलियट आदि ने इस कदर विद्रोह किया और अपने रंगमंच को अधिक प्रशस्त, उदार तथा काव्यमय बनाने का प्रयत्न किया।

किंतु पश्चिम के उस सीमित यथार्थवादी रंगमंच की अपनी असीम शक्ति भी थी, जिसके माध्यम से इब्सन और चेखव ने अपने-अपने श्रेष्ठ नाटक 'डॉल्स' हाउस और 'सीगल' की रचना की। मेरे विचार से केवल इन दो नाट्यकृतियों को छोड़कर इब्सन और चेखव के शेष अन्य नाटक

अपेक्षाकृत कल्पनाहीन, काव्यहीन यथार्थवादी रंगमंच के उदाहरण हैं। इनका कुप्रभाव आगे पश्चिम के रंगमंच पर किस तरह पड़ा, इसकी चर्चा मैं बाद में कर रहा हूं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 'डॉल्स हाउस' और 'सीगल' का रंगमंच महज़ यथार्थ का आधार लिए हुए है, शेष इसमें मानवतापूर्ण, ठोस कथा के सहारे बहुमुखी जीवन के प्रति अपनी एक विशेष कलात्मक व्यंजना है। ये दोनों नाट्यकृतियां अपने आंतरिक रंगमंच की अन्विति में निश्चय ही कहीं काल्पनिक रंगतत्त्वों तथा काव्यमयी वृत्तियों से निर्मित हैं। अतएव इनके मंच में कैमरा और रेडियो की शक्ति से परे का जीवन, उनकी सम्प्रेषण-शक्ति से परे का भाव अभिव्यक्त है।

इब्सन और चेखव के शेष अन्य नाटकों की शक्ति, उनके भाव-बोध अपेक्षाकृत सीमित हैं। आधुनिक रंगमंच में यह कलात्मक सीमा है प्रकृतवादी दृष्टि की, उसकी रंगकला की, जिसकी चरम सीमा है 'रेसाइन का रंगमंच'—जहाँ न नाटक में कथावस्तु है, जहाँ न नाटक में नायक है, न जहाँ जीवन की मांसलता है, न विराट्-द्वन्द्व है। सब कुछ जहाँ केवल 'मूड' और तर्क पर आधारित है।

वस्तुतः यह है आधुनिक रंगमंच की भयानक सीमा, जिसके फलस्वरूप फिल्म और रेडियो (टेलीविजन) ने इसे बेतरह पराजित किया।

किंतु इस आधुनिक रंगमंच की अपनी वह शक्ति भी है, जो फिल्म, रेडियो तथा टेलीविजन से अपराजेय है। यह शक्ति है इसके काव्यतत्त्व में, इसके मांसल रंगतत्त्व में, जिसे काकटेव ने 'रंगमंच का काव्य' कहा है। पर नाटक का यह काव्य केवल उसके कथोपकथनों में नहीं है जैसे कि पश्चिम में शेक्सपियर और हमारे यहां जयशंकर प्रसाद और टैगोर में विद्यमान है; वरन् यह काव्यात्मकता है नाटक में व्याप्त अभिनयात्मिका वृत्ति में, पात्रों में छिपी अभिनय-कला में, जिसकी प्रत्यक्ष अनुभूति हमें नाटक के प्रस्तुतीकरण में होती है अथवा नाटक पढ़ते समय मन के मंच पर यदि उसे अभिनीत होते हुए देख सकें, तब उसमें व्याप्त रंगमंच का



काव्यानन्द हम पा सकते हैं। अतः स्पष्ट है कि जिस नाट्यकृति का मूलाधार यह अभिनयात्मिका वृत्ति होगी, वही सफल श्रेष्ठ आधुनिक रंगमंच का उदाहरण है। शेष सब अर्थहीन है। यथार्थवादी रंगमंच के नाम पर केवल विस्तार (डिटेल) देना, मंच पर वस्तु-सामग्री, वस्तुएं गिनना वास्तविक रंगमंच की अवज्ञा करना है। क्योंकि कैमरा-शक्ति के आगे कौन कितना और क्या 'डिटेल' दे सकता है! वस्तुतः आधुनिक रंगमंच की शक्ति वहाँ से शुरू होती है, जहाँ कैमरा और रेडियो की शक्ति समाप्त हो जाती है। वह शक्ति-क्षेत्र है यथार्थ और कल्पना के कलात्मक समन्वय में। इन दोनों तत्त्वों की समन्वित शक्ति से जो रंगमंच बनता है, उसमें कथा का निर्माण घटनाओं के चयन की अपेक्षा पात्रों के कार्य, उनके कर्म तथा उनकी चेतना के विकास, संघर्ष और उदय के आधार से होता है। चेतना का यही धरातल रंगमंच के काव्य का स्रोत बनता है। इसकी यही आन्तरिक अन्विति समूचे नाटक में एक लय, एक गति, एक रंग स्वर-लिपि की प्रतिष्ठा करती है। इसमें एक व्यक्ति के अहं, उसके कार्य, उसके 'मूड' की अपेक्षा नाटक के सभी पात्रों के समूचे कार्य को आधार बनाया जाता है। सबके बाह्य और आंतरिक सम्बन्धों से, सबके पारस्परिक चेतना-तत्त्वों से उद्भूत एक व्यापक कार्य से यह नया नाटक निर्मित होता है, जिसे अरस्तू ने 'इतिहास की अपेक्षा अधिक दर्शन' कहा है।

रंगमंच की यह उपलब्धि यथार्थवादी रंगमंच की सीमाओं पर निश्चय ही एक विजय की दृष्टि है।

दुर्भाग्य से भारतीय आधुनिक रंगमंच में अभी गत दशक तक जितनी नाट्यकृतियाँ लिखी गईं उनमें इसी कल्पना-तत्त्व दर्शन-तत्त्व, और मुख्यतः अभिनयात्मिका वृत्ति का अभाव था। उन पर इब्सन, चेखव और शॉ के उन यथार्थवादी नाटकों की छाप थी, जिनमें दर्शन के स्थान पर इतिहास था, काव्यात्मक यथार्थ के स्थान पर न्यायसंगत यथार्थ था, कल्पना के स्थान पर जहाँ केवल तर्क था।

स्वभावतः ये भारतीय नाट्यकृतियाँ न भारतीय पाठकों को ही रुचिकर लगीं, न अभिनेताओं और दर्शकों को ही आकर्षित कर सकीं।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद समूचे भारतवर्ष में सभी क्षेत्रीय रंगमंच के स्तर से नाट्यलेखन में तीव्र गति आयी और चारों ओर रंगमंच की मांग के कारण आधुनिक रंगमंच के विषय में चर्चा और चिंता शुरू हुई। और पश्चिम के आधुनिक रंगमंच पर जब हम आए दिन इतने प्रयोग और इतनी क्रांतियाँ देखते हैं तो हमारी चिन्ता यह अनुभव कर और भी गहन हो जाती है कि आधुनिक रंगमंच का अपना कोई निश्चित कला माध्यम ही नहीं है।

स्वभावतः यही चिन्ता आज नाट्यलेखन-स्तर पर सबसे ज्यादा गहन हुई है, क्योंकि आखिरकार रंगमंच की धुरी तो यह नाट्यकृति ही है। यह नहीं तो रंगमंच घूमेगा कहाँ ? यह सत्य है कि आधुनिक रंगमंच का पूरा रंगशिल्प हमें पश्चिम से मिला है, पर सोचने की बात है, वर्तमान में पश्चिम की इस संदर्भ में क्या दशा है ? इतनी अबाध परम्परा, इतना सुखसम्पन्न उनका आधुनिक रंगमंच, फिर भी वर्तमान समय में नाट्यलेखन के स्तर से वे भी अपनी नयी दिशा और रंग-अन्वेषण के प्रति चिन्तित हैं। फिर तो हमारी चिन्ता, हमारी पीड़ा उनसे दुगुनी-तिगुनी हुई, क्योंकि हमारे पास तो अपनी आधुनिक रंगमंच की कोई वैसी सम्पन्न परम्परा ही नहीं है—न नाट्यलेखन की दृष्टि से, न प्रस्तुती-करण के धरातल से। और यह चिन्ता, यह पीड़ा भारतवर्ष में आगे आने वाली पीढ़ियों तक तीव्रतर होती जाएगी, यदि अब हम भी अपनी दिशा में नहीं चलेंगे। वह दिशा कहाँ है ?—हमारे अपने हृदय में, हमारे अपने दर्शकों में, हमारी भूमि में, हमारे अपने प्रसाधनों (रिसोर्सेज़) में, हमारी अपनी पीड़ा में।

नाटक का सीधा सम्बन्ध हमें अपने समाज और जीवन में जोड़ना



होगा। जनसमुदाय को अपने रंगमंच से जोड़ने के लिए नाटककार को स्वभावतः उन्हीं के रंगमंच में उतरना होगा। इस दिशा में अतुल शक्ति बिखरी पड़ी है। लोक-रंगमंच की, जिसकी परम्परा सदैव अबाध और सुदृढ़ है।

शहरी रंगमंच के उदय में एकमात्र दिशा है पहले नाटककार की अपनी रंगदृष्टि। आधुनिक रंगमंच ने इस क्षेत्र में आज अपने विकसित रंगशिल्प से, अपनी प्रस्तुतीकरण-कला से यह सिद्ध कर दिया है कि नाटक लिखना लेखक की अपनी एकांत कला नहीं है; वरन् नाट्यलेखन वस्तुतः नाटककार से प्रस्तुतकर्त्ता, निर्देशक की प्रतिभा की मांग करता है—वह अभिनेता, रंगशिल्पी की कला की सहज उपेक्षा करता है, ताकि नाटक अपनी अभिनयात्मिका वृत्ति के साथ मंच पर रंगकला की सहज उपलब्धि को प्राप्त कर सके और उसमें निर्देशक तथा अभिनेता को भी नाटककार की ही भांति अपनी-अपनी सृजनात्मक शक्ति की अभिव्यक्ति का अवसर और क्षेत्र मिल सके। नाट्यकृति में रंग संभावनाएं इतनी व्याप्त हों कि रंगमंच के सभी वर्गों को अपनी कल्पना और प्रतिभा दिखाने का सुअवसर मिल सके। इसी को कहेंगे 'समाज का रंगमंच', 'सब वर्गों का रंगमंच'। नहीं तो अहंवादी नाट्य-रचना से हमारा सारा रंग-कार्य पिछली पीढ़ी के नाट्यकर्म की भाँति एक उबाने वाली उदास वृत्ति और कलाहीन व्यापार होकर रह जाएगा।

निश्चय ही यह भारतीय रंगमंच के लिए अत्यंत शुभ चरण है कि वर्तमान नाटककार अपने रंगमंच में आकर उसका अभिन्न अंश बन, अपनी लेखन-कला को हृदयंगम करने लगा है। इन शुभ क्षणों में मुझे सहज ही एक महत्त्वपूर्ण पत्र की सुविधा हो रही है, जिसे मेंसफील्ड ने गार्डेन क्रेग को एक पत्रिका में लिखा था :

"कवि को रंगशाला में काम करने वाले अन्य कलाकारों का मित्र या साथी होना चाहिए और उसे अन्य कलाकारों को अपनी-अपनी क्षम-ताओं के प्रयोग के लिए एक-दूसरे को, जहाँ तक सम्भव हो, अधिकतम

अवसर प्रदान करने के उद्देश्य से मिल-जुलकर काम करना चाहिए। जब भी कभी किसी रंगशाला में ऐसा हो पाता है तब कोई श्रेष्ठ उपलब्धि ही इसका परिणाम होती है।"

"रंगशाला का कोई भी कार्यकर्त्ता अपने अन्य साथी कार्यकर्त्ताओं की कला के बिना काम नहीं चला सकता; प्रत्येक को उस सामान्य की सिद्धि के लिए अपने भरसक सब कुछ करना चाहिए जो इसके माध्यम से असामान्य बन जाता है।"[1]

मुख्यत: यह पत्र आधुनिक रंगमंच के नाटककार के लिए उसका महान् धर्म बता गया है।

नाटककार और प्रस्तुतकर्त्ता का ऐसा अभिन्न सम्बन्ध! भारतवर्ष में विशेषकर हिन्दी-क्षेत्र में इस दर्शन के ठीक विपरीत घटना घटी थी। नाटककार ने कहा, "रंगमंच के सम्बन्ध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जायें, प्रयत्न तो होना चाहिए कि नाटक के लिए रंगमंच हो।"[2] और ठीक इसके विपरीत उस काल के पारसी रंगमंच

---

१. "A poet should be 'the fellow' of the other artists working in the theatre. He and the other artists should be working together to give to each other the greatest possible opportunities for the exercise of their powers. Whenever this happens in any theatre something noble is achieved.

"No worker in the theatre can do without the art of his fellow-workers, each should bring all that of he can to the common stock, which thereby becomes uncommon."

—'The 'Mask', July, 1924

२. जयशंकर प्रसाद, 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', पृ० १०, पहला संस्करण।



के प्रस्तुतकर्त्ता ने कहा, "हम यहाँ इससे (रंगमंच से) रुपया कमाने आये हैं, कुछ साहित्य भण्डार भरने नहीं।"[1]

कैसी तीव्र प्रतिक्रिया थी एक-दूसरे के दृष्टिकोण में! कैसी विकट उपेक्षा थी एक-दूसरे से! न नाटककार तैयार था अपने काल के रंगमंच में आने को, न प्रस्तुतकर्त्ता तैयार था नाटककार के पास जाने को, इसलिए दोनों अधूरे अपूर्ण रहे। इस अहंकार का भयानक कुप्रभाव हमारे रंगमंच पर पड़ा। हमारे देश का आधुनिक रंगमंच इस तरह अपने इस निर्माण और उदयकाल में ही अनाथ रह गया। इस शिशु को अपने अहंकारी पिता (नाटककार) और अपनी असहिष्णु-बाजारू माँ (प्रस्तुतकर्त्ता) से ऐसा निर्मम परित्याग मिला कि समाज से इसे पारसी अनाथालय में जाना पड़ा।

नेता (नाटककार)-विहीन दृष्टि-रहित पारसी रंगमंच-काल का प्रस्तुतकर्त्ता स्वभावत: अपने इस उद्देश्य में लगा था कि उसे अधिक से अधिक धन प्राप्त हो जाए। यह उसको कतई चिंता न थी कि वह खेल क्या रहा है, उसकी रचना क्या है, वह रचना कैसी रंगसज्जा मांगती है, कैसा प्रकाश और कैसा संपूर्ण रंगशिल्प! वह रचना किस काल पर आधारित है, किस युग की व्यंजना है उसमें, उसके लिए कैसा वातावरण और कैसा अभिनय चाहिए। इन बातों की उसने जरा भी चिन्ता न की। प्रदर्शन! मात्र प्रदर्शन! जबकि सत्य यह है कि रंगकला न मात्र प्रदर्शन में है न केवल यथार्थ-दर्शन में, बल्कि इसकी श्रेष्ठता है भावानुभूति में, कल्पना और विचार दर्शन के समन्वित सत्य, अनुरूप रंगमिश्रण तथा रेखांकन की स्वर-मैत्री में, समन्वय में। तभी उसमें से प्रभाव की एकता उजागर होती है, जो सीधे हमारे हृदय, मन, प्राण और विवेक को स्पर्श करती है।

---

१. 'माधुरी', वर्ष ६, खण्ड १, संख्या ३, 'पारसी रंगमंच और हिन्दी नाटक'।

रंगकला का यही प्रतिमान आधुनिक रंगमंच की विशेषता है। जहां नाट्यलेखन एक कला है, ठीक उसी प्रकार प्रस्तुतीकरण को भी कला की भूमिका और संज्ञा प्राप्त हुई। फिर भी ये दोनों कलाएँ एक-दूसरे से अभिन्न हैं, एक-दूसरे से उद्भूत हैं। नाट्यकला के विषय में यह अवधारणा पश्चिम में उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ से ही प्रतिष्ठित होने लगी और बीसवीं सदी में वे देश इनकी पूर्णता को प्राप्त हो गये।

किन्तु हमने यहाँ अपनी स्वतन्त्रता के बाद से पहली बार रंगमंच-क्षेत्र में इस कला-स्तर से सोचना शुरू किया। नाटक और उसका प्रस्तुतीकरण एक स्वायत्त कला है; आज भारतवर्ष में सभी महत्त्वपूर्ण नाटककार और प्रस्तुतकर्त्ता इस रंगकला-प्रतिमान से सहमत होकर अपना कार्य कर रहे हैं। पर इस संदर्भ में यह प्रश्न आज हमारे सामने अत्यन्त ज्वलन्त है—हमारे नाट्यलेखन की दिशा क्या हो? यथार्थ अथवा कल्पना? या दोनों का समन्वय? इस प्रश्न का उत्तर हमें अपने दर्शक की मनोवृत्ति के भीतर से ढूंढ़ना होगा। आज भारतीय दर्शक क्या है? कहाँ है?

बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात और दक्षिणी भारत के अंतर्गत, उनमें से भी बहुत ही छोटे-से क्षेत्र को छोड़कर आज समूचे भारतवर्ष में, विशेषकर हिन्दी-क्षेत्र का दर्शक फिल्म का दर्शक है। और फिल्म वालों की जैसे इस भारतीय दर्शक के परम्परातुष्ट मन और उसके संस्कार का खूब अध्ययन और ज्ञान है। फलतः अच्छी श्रेष्ठ फिल्मों में यथार्थ के आधार पर वही काल्पनिकता रही है, वही संगीतप्रियता, वही आदर्शवादिता और वही सुखांत!

सौभाग्य या दुर्भाग्य से इतिहास की देन के फलस्वरूप हमारे दर्शक यही हैं, जिन्हें 'पिक्चर हाउस' से रंगशाला में लाना है।

स्वभावतः ये दर्शक न यथार्थवादी नाटक चाहते हैं। न अभी प्रयोगात्मक रंगमंच। ये सब नाटक चाहते हैं। कैसा नाटक? ऐसा जो एक ओर इनके विषय, इनके यथार्थ से सम्बन्धित हो; दूसरी ओर जो इनकी



भावनाभूति, इनके दर्शन को उसके भीतर से वाणी दे सके; उन्हीं के मानस चित्र, उन्हीं के राग-रंग में जो उन्हें बांध सके और उन्हें रंगशाला में बैठने के लिए जो आकर्षित कर सके। क्योंकि व्यावहारिक स्तर पर आज नाटककार से पहले रंगशाला में दर्शक की समस्या है। नाटककार तो आज बहुत हैं, अभिनेता की भी बाढ़ है, पर दुर्भाग्य यह है कि टिकट खरीद कर नाटक देखने वाले (असली दर्शक) ही नहीं हैं।

तो रंगशाला में अभी असली दर्शक ही नहीं है। ऐसा दर्शक, जिसके जीवन का, सौंदर्य-बोध अथवा मनोरंजन-वृत्ति का रंगमंच एक अभिन्न अंग बना हो।

दूसरी ओर हमारे प्रस्तुतकर्त्ता, निर्देशक और अभिनेता-वर्ग की स्थिति है, जो वर्तमान समय में रंगमंच कार्य में लगे हैं, पर जिनकी अपनी सीमाएं और सम्भावनाएं हैं, शक्तिसम्पन्नता है। और आखिर यह वर्ग भी फिल्म ही का तो दर्शक है।

ठीक इन दोनों आयामों से परे नाटककार खड़ा है। अपने अध्ययन कक्ष में पश्चिम के प्रायः सभी देशों—इंग्लैंड, अमरीका, रूस, फ्रांस, जर्मनी, इटली, स्पेन और आयरलैंड आदि की एक उत्कृष्ट नाट्यकृतियों को पढ़ता हुआ, उनके 'क्लासिक्स' से लेकर आधुनिक प्रयोगात्मक नाट्यकृतियों तक। इसका परिणाम यह है कि भारतीय नाटककार की बौद्धिक चेतना अपने देश के पिछड़े रंगमंच से स्वभावतः बहुत आगे बढ़ गयी है। रंगमंच और नाटककार के बीच इस दृष्टि से एक भयानक दूरी आ गई। वस्तुतः यह दूरी हिन्दी रंगमंच में जयशंकर प्रसाद के समय से और बंगला रंगमंच में टैगोर के समय खिचनी शुरू हुई है। इस तरह अपने पिछड़े रंगमंच से स्वभावतः असन्तुष्ट होकर भारतीय नाटककार उसे पीछे उपेक्षित छोड़कर अकेले अपने उन्नत (?) मानसिक जगत् और चेतना को लिए हुए आगे चलता रहा। उसने इस तरह यथार्थ रंगमंच के स्थान पर अपने मानसिक अतीन्द्रिय रंगमंच का निर्माण किया और अपने 'ड्राइंगरूम' में सन्तुष्ट बैठकर उसने अपने 'ड्राईंगरूम' के ही

'रंग' का नाटक लिखा। वही क्षेत्र, वही घुटा-सा वातावरण—बाहर के प्रशस्त जीवन-क्षेत्र से टूटा हुआ, कथाहीन नाटक, अभिनयात्मिका वृत्ति से शून्य नाट्यकृति। और अपने अहं की पूर्ति के लिए उसने अपनी इन्हीं नाट्य-रचनाओं को 'साहित्यिक नाटक' की संज्ञा दी। ये साहित्यिक नाटक इस तरह लाइब्रेरी में सजकर, पाठ्यक्रम में पालथी मारे अपने पिछड़े रंगमंच को अंगूठा दिखाते रहे और उपेक्षित रंगमंच जमीन पर खड़ा हुआ उन नाटकों को दूर से ही प्रणाम करता रहा। नाटककार उस रंगमंच के पास जाने में, उससे हाथ मिलाने में अपनी बेइज्जती समझता रहा। इसका फल यह हुआ कि भारतीय रंगमंच बिना अपने नेता और शिल्पी (नाटककार) के अपनी जगह पर खड़ा रह गया और नाटककार की एकांत कृतियां यथार्थ रंगमंच से शून्य प्राणहीन बनकर रह गयीं। उनमें तथाकथित साहित्यिकता थी, पर उनमें रंगमंच न था। उनमें सूक्ष्म दर्शन रहा होगा, पर उनमें जीवन न था। उनमें विषय था, पर कथा न थी। उनमें कथोपकथन थे, उनके भीतर रंगगति न थी। उनमें घटनाएं थीं, पर वे मंच-कार्यविहित थीं। उनमें दृश्य-योजना थी, पर रंग-योजना नहीं। उनमें पात्र-योजना थी, पर भूमिकाहीन। उनमें यदि दृष्टि थी तो पाठकों के प्रति दर्शन-बोध का कहीं ध्यान भी न था।

रंगमंच और नाटक के बीच इतना भयानक फासला! इतनी अजब दूरी!

पश्चिम से सर्वथा अलग, सर्वथा विभिन्न यह भारतवर्ष का आधुनिक रंगमंच, जिसका दर्शन वर्ग रंगशाला के विमुख 'पिक्चर हाउस' में बैठा है। प्रस्तुतकर्ता और अभिनेता उजड़ी हुई रंगशाला में झाड़ू दे रहा है, साथ ही किसी अनजाने नाटक का 'रिहर्सल' कर रहा है तथा हाथ में निमंत्रण-पत्र भरे दर्शकों को रंगशाला में बटोरने के लिए मुंह के बल बेचारा दौड़ रहा है। और नाटककार अपने बंगले में बैठा हुआ अपने सिर पर नाटककार होने का बड़ा-सा मुकुट रखे हुए है—ऐसा मुकुट जिसमें अर्थ से ज्यादा बोझ है, सौन्दर्य से ज्यादा प्रदर्शन है। यही



नाटककार-वर्ग अगले दिन पश्चिम के रंगमंच और नाट्य साहित्य की भूरि-भूरि प्रशंसा करता है और उनके प्रति अपनी असीम श्रद्धा व्यक्त करता है। दूसरी ओर रंगमंच-अध्येता अपनी नाट्यस्थिति बिना भोगे हुए ही रंगमंच आन्दोलन पर लेख लिख रहा है। और नाटक का अध्यापक अपने रंगमंच की उपेक्षा किए हुए नाटक के तत्त्वों पर व्याख्यान दे रहा है, और रंगमंच-अभाव पर घड़ियाल के आंसू बहा रहा है तथा मात्र कथोपकथन के अर्थ बताता हुआ, रंगमंच-कार्य को हिकारत की नजर से देखता हुआ नाटक के उत्थान-पतन पर जोरदार भाषण दे रहा है।

कैसा अजब विरोधाभास! कैसा दयनीय असंगठन! कैसी अपावन फूट! कितना अमंगल अलगाव!

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व हिन्दी, बंगला, गुजराती, मराठी, और दक्षिण भारतीय सभी क्षेत्रिय रंगमंच में कमोबेश यही स्थिति सर्वत्र थी। वही अलगाव! वही दूरी! वही असंगठन! वही अनास्था! रंगमंच बहुत पीछे—नाटककार बहुत आगे!

पर स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद जब रंगमंच में भावना स्तर से एक अभूतपूर्व नवोन्मेष आया तो इसमें नाटककार को फिर अनुभूत हुआ कि अपने रंगमंच से अलग रहकर उसकी कोई स्थिति नहीं। रंगमंच से विच्छिन्न नाटककार का कोई अर्थ नहीं। अपने युगकाल के रंगमंच से अलग उसका कोई अर्थ नहीं। अपने युगकाल के रंगमंच से अलग उसकी कोई किस्मत नहीं।

भारतवर्ष में आधुनिक रंगमंच के अन्तर्गत वर्तमान काल का यह रंग आन्दोलन—नाटककार का रंगमंच में आना, उससे अपने-आपको अंगीकृत करना—पुनर्संगठन का यह पहला चरण निश्चय ही इसके महान् भविष्य का साक्षी है, जहां पहली बार सुसंगठित और नियोजित ढंग से, रंगकला के प्रति अटूट निष्ठा लिए हुए नाटककार अपने रंगमंच के साथ एकाकार हुआ। इस मंगल-चरण में नाट्य लेखन की दिशा सहज

ही खुलती जाएगी। क्योंकि अब तो रंगयात्री सब एक साथ चल पड़े। दिशा स्पष्ट रहती है अलग-अलग चुप बैठे रहने वालों के लिए। सामने का घिरा क्षितिज उन्हें दुनिया की सीमा लगती है पर चलने वालों के सामने दिशा घिरे क्षितिज में अपने-आप उघरती चलती है।

दिशा और अनन्त दिशा !

फिर तो दुर्भाग्य के इतिहास भी सौभाग्य के चरण लगने लगते हैं।

पश्चिम का सारा आधुनिक रंगमंच, आंदोलन, उसकी सीमाएं और उपलब्धियां हमारे सामने हैं। यथार्थवादी रंगमंच, उसका प्रकृतिवादी विकास, जिसमें पश्चिम का नाट्य उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर बीसवीं सदी के तीसरे दशक तक भटकता रहा, और उसका सारा रंगमंच-कार्य यथार्थ, प्रकृतिवाद, 'वेलमेड प्ले' के नाम पर जीवनहीन हो गया। पश्चिम के प्राय: सभी देशों में इस काल का नाटककार वर्ग इब्सन चेखव और बर्नार्ड शॉ की नाट्यकला से इतनी बुरी तरह से प्रभावित हुआ कि उनके आधुनिक रंगमंच का इतना लम्बा काल श्रेष्ठ रंगमंचीय नाट्यधारा से शून्य हो गया। प्राय: सारे नाटक रंग, कार्य, कथा, कल्पना, काव्य—इन महत्त्वपूर्ण तत्त्वों से शून्य होकर केवल 'मूड' 'प्रोपेगण्डा' और 'थीसिस प्ले' का साहित्य होकर रह गये।[१] जिसमें न रंगमंच का उतना ही रक्त था, न उतनी ही गति थी। फलत: इस लम्बे काल तक पश्चिम का सारा दर्शक-वर्ग अपने मनोरंजन के लिए रंगशाला को छोड़कर 'पिक्चर हाउस' में जा बैठा। ठीक यही तो आज भारतवर्ष के दर्शकों की स्थिति है।

---

१. One of the popular traditions of our time has with perfectly good intentions, transformed theme into thesis, character into mouth-piece, play wright into high priest.

—p. 87, 'How not to write A play' by Walter Kerr.



पश्चिम में आधुनिक रंगमंच की उस दशा से लड़ने के लिए वहां वही रंगदर्शन-भरी आवाज बुलन्द हुई :

"दर्शकों के प्रति सम्मान ! यदि नाटककार दर्शकों को किसी लक्ष्य तक पहुंचाना चाहता है तो उसे चाहिए कि पहले वह दर्शकों को अंगीकार करे। उसे दर्शकों को घनिष्ठ रूप से जानना चाहिए, उनकी बुद्धि का सम्मान करना चाहिए, उनकी सहभागिता का स्वागत करना चाहिए।"[१]

रंगमंच को इस संक्रांति से उबारने, उसे पुनर्जीवन देने के लिए, नयी दिशा और नयी गति देने के लिए पश्चिम में फिर वही पुराना दर्शन दुहराया गया :

"जनता की भीड़ को प्रभावित करने वाले लोकप्रिय नाटकों की परंपरा से महान् रंगमंच का विकास होता है। यूनानी नाटककारों के साथ, मोलायर और शेक्सपीयर के साथ यही बात रही है। आजकल के नाटक कभी-कभी बुद्धजीवियों को तो प्रभावित करते हैं, लेकिन आम जनता को कदाचित् ही कभी प्रभावित कर पाते हैं।"[२]

फलत: पश्चिम में 1930 ई० के बाद जिस नये रंगमंच का जन्म

---

१. Respect for the audience ! In order to take the audience somewhere the play-wright must first embrace it. He must know it intimately, must honour its intelligence, must welcome its partnership."

२. "Great theatre must arise from a tradition of popular plays which appeal to the crowd. This was the case with the Greek dramatists, with Moliere, with Shakespeare Today's plays appeal sometimes to the intellectuals, but hardly ever to the general public."

हुआ और जिससे पश्चिम का रंगमंच फिर से आबाद हुआ, वह 'यथार्थवादी रंगमंच' के स्थान पर जीवन, इतिहास, गाथा (Myth), दर्शन, कल्पना और धर्म से परिपूरित केवल रंगमंच था, जिसके प्रतिनिधि नाटककार अवतरित हुए : इंग्लैंड में टी० एस० इलियट : 'मरडर इन केथिड्रल' (१९३५); क्रिस्टोफर फ्राई : 'द लेडी इज नॉट फॉर बार्निंग' (१९४२): मध्य यूरोप में बर्तोल ब्रेख्ट : 'द थ्री पेनी ऑपेरा' (१९३०), 'द काकेशियन चॉक सर्कल' (१९४४)। फ्रांस में जां काक्तू : 'द इनफर्नल मशीन' (१९३४), जां पॉल सार्त्र : 'द फलाइज' (१९३४), जां अनाउल्ल : 'एन्टीगान', 'दलार्क'। स्पेन में लोर्का : 'ब्लड वेडिंग' (१९३३), 'वर्मा' (१९३४)। अमरीका में सरोयन : 'माइ हार्ट इन द हाइलैंड्स' (१९३९), टेनसी विलयम्स : 'द ग्लास मैनेजरी' (१९४५)।

आज पश्चिम में यह दिशा है उनके आधुनिक रंगमंच की। पर हमारी दिशा यह पश्चिम की नहीं हो सकती। उनका यह आंदोलन उनके यहां की नाट्यस्थितियों की सहज देन है। उनकी यह रंग-उपलब्धि उन्हीं के इतिहास, उन्हीं के दर्शकों की मांग और मुख्यतः उन्हीं के परंपरागत, रूढ़िगत रंगमंच की प्रेरणा के फलस्वरूप थी। इस दिशा में पश्चिम का यथार्थवाद, फिर यथार्थवाद के विरुद्ध यह व्यापक प्रतिक्रिया और यह नया नाट्य साहित्य—यह सब हमारे लिए इतिहास के एक ज्वलंत उदाहरण के रूप में सामने हैं। इतिहास के इस अनुभव से हम सीख अवश्य ले सकते हैं।

जैसा हमारा रंग-इतिहास है, जैसी हमारी स्थिति है, न पूर्णतः हम यथार्थवादी हो सकते हैं, न हम पश्चिम जैसे प्रयोगवादी रंगमंच पर सहसा कूद सकते हैं। हमें वहां से अपनी दृष्टि लेनी है जहां हमारे अपने रंगमंच की एकांत शक्ति छिपी है, जहां हमारी अपनी अतिरिक्त शक्ति है। और अपनी इस दृष्टि में पश्चिम के आधुनिक रंगमंच के इतिहास का वह कलात्मक अनुभव हमें कभी नहीं भूलना होगा कि जब पश्चिम में



वह यथार्थवादी रंगमंच फलीभूत नहीं हुआ, फिर तो भारतवर्ष भारतवर्ष है, जहां की प्राचीन नाट्य-परम्परा काव्यानन्द 'रस' में धर्मनिष्ठ है।

हम देश, काल और युग का रंगमंच तथा उसका नाट्यलेखन उसकी अपनी परिस्थितियों और उसकी अपनी सामर्थ्य (रिसोर्सेज़) के अनुसार ही विकसित होगा, और हुआ है। इस विकास का सीधा संबंध उस देश, युग और काल की अपनी आंतरिक शक्ति है। पश्चिम की उपलब्धियां हमारे सामने हैं, हम उनसे महज़ रंगशिल्प के स्तर से मदद ले सकते हैं पर हम उनकी सामूहिक उपलब्धियों से अपनी उपलब्धि नहीं पा सकते।

हमारे यहां तो अभी सारे रंगतत्व बिखरे हैं। इसलिए अभी तो हमारी सारी शक्ति रंगमंच-संगठन पर है। इसे पहले हमें अपने परिप्रेक्ष्य में आधुनिक बनाना है। इसे रंगमंच के सभी तत्त्वों से पहले सही अर्थों में विभूषित करना है। और निश्चय ही इस सब कार्य-व्यापार का मूल केन्द्र नाट्यकृति ही है। और यह भी सत्य है कि नाट्यकृति आज रंगमंच के इतने सामूहिक क्रियाकलाप, उसके इतने आधुनिक कलात्मक व्यापार के लिए तब तक समुचित क्षेत्र नहीं दे सकती जब तक कि उसमें उतनी आंतरिक रंग-अन्विति न हो। और इस आंतरिक रंग-अन्विति का निर्माण अपने युग के रंगमंच की सभी उपलब्धियों के सामंजस्य से नहीं होता है, यह भी बहुत बड़ा सत्य है।

कितना गहन अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है।

तभी भारतवर्ष के वर्तमान नाटककार का दायित्व एक ही साथ एक ही गहनता और व्यापकता से कितने धरातलों पर है—यह उसके लिए बहुत बड़ी चुनौती है और साथ ही यह उसके लिए बहुत बड़ा धर्म भी है। एक की असफलता, एक की क्षति दूसरे को भोगनी होगी, यह स्पष्ट है।

शायद ही किसी युग में किसी देश के नाटककार के सामने इतना बड़ा दायित्व, इतना गहन धर्म आया हो।

—लक्ष्मीनारायण लाल

रातरानी

## पात्र

| | |
|---|---|
| जयदेव | सुन्दरम |
| कुन्तल | योगी |
| निरंजन | प्रकाश |

माली

नाटक के कार्य-व्यापार का केन्द्र जयदेव का घर है—लखनऊ शहर में। उत्तर प्रदेश की राजधानी और उत्तर भारत का एक आधुनिक नगर।

समय

१९५९ ई०

# पहला अंक

बड़ा-सा कमरा, जिसमें बरामदे जैसा खुलापन है। पीछे दीवार में बायीं ओर जालियों वाला एक प्रशस्त चौखटा, जिसमें इस बंगलेनुमा घर का बगीचा और फुलवारी दिख रही है। इससे भी परे इस देश का और नवम्बर मास का स्वच्छ नीला आकाश घिरा है।

चौखट से दायीं ओर की दीवार फिर सामने मुड़ी हुई है। इसी मोड़ पर पीछे घर में जाने का दरवाज़ा है, जो सामने से पूरा दिखाई नहीं पड़ता। दायीं ओर की दीवार में एक खिड़की। इसी दीवार में मालिक इंजीनियर साहब का एक चित्र टंगा है। इसी के समानान्तर बायीं दीवार में एक दरवाज़ा, जिस पर लाल रंग का मोटा पर्दा झूल रहा है।

कमरे में बायीं ओर दरवाज़े से आगे एक दीवान बिछा है। दायीं ओर बेंत की दो खूबसूरत कुर्सियां और उसी का गोल टेबल। पीछे दायीं ओर दो-तीन मूढ़े। पास ही एक स्टैण्ड-लैम्प। स्टैण्ड-लैम्प से दायीं ओर फूलदान रखने का ऊंचा टेबल, जिसके फूलदान में पुष्प सुसज्जित हैं। दायीं ओर कोने में एक छोटा बुक-रैक, जिसमें कुछ पुस्तकें रखी हैं।

पीछे चौखट के पास एक आरामकुर्सी पड़ी है। पास ही पीछे बाएं कोने में सुन्दर पॉम का एक गमला। इसी तरह दाएं कोने में क्रोटन्स के दो गमले रखे हैं। चौखट के एक कोने पर चमेली की एक हल्की-सी लता फैली है।

नवम्बर मास का पहला सप्ताह है। सुबह के दस बज चुके हैं। बगीचे और फुलवारी में पूरी धूप फैल आयी है। खिड़की से भी धूप छनकर कमरे में प्रकाशित है।

पर्दा खुलते ही प्रकाश में धुला-सा स्वच्छ सुन्दर कमरा जैसे आंखों में बस जाता है। पृष्ठभूमि में उसी क्षण बाँसुरी का अकेला मधुर संगीत उभरता है, फिर कुन्तल के स्वर का गीत :

'किस कर में यह बीना धर दूँ ?
देवों ने था जिसे बनाया
देवों ने था जिसे बजाया
मानव के हाथों में कैसे इसको आज
समर्पित कर दूँ ?
किस कर में यह बीना धर दूँ ?
इसने स्वर्ग रिझाना सीखा
स्वर्गिक तान सुनाना सीखा
जगती को खुश करने वाले स्वर से कैसे
इसको भर दूँ ?'

वह यह गीत गाती हुई भीतर से आती है। अवस्था अट्ठाईस वर्ष के आसपास—यौवन की महिमा से पूर्ण। गुलाबी रंग की साड़ी पहने है। हाथ में ताजे सफेद ग्लेडिबोलस के पुष्प का गुच्छा लिए हुए दायीं ओर बढ़ती है और फ्लावर-पॉट में सजाती है। फिर गाती हुई घर में तेज़ कदमों से चली जाती है।

बायीं ओर के दरवाज़े से जयदेव का प्रवेश—भूरे रंग का सूट पहने हुए। आकर्षक पुरुष। अवस्था पैंतीस वर्ष से अधिक नहीं। कमरे में प्रविष्ट होते ही कुन्तल के गीत की स्वरलहरी में जैसे बंध जाता है। प्रसन्नता से बढ़कर दायीं ओर की कुर्सी पर बैठ जाता है। कुन्तल पुनः तेजी से आती है, उसका गीत अभी तक खत्म नहीं हुआ है। हाथ में कैंची लिए हुए चौखट के पास रखे क्रोटन्स, पॉम तथा ऊपर चढ़ी हुई चमेली की लता की



पत्तियों को संवारती है। सहसा जयदेव अपनी मीठी खांसी से अपनी उपस्थिति बताना चाहता है।

कुन्तल : कौन ? (घूमती हुई) अरे तुम ? यहाँ छिपकर बैठे हो ? (पीछे खड़ी हो जाती है।) प्रेस नहीं गये क्या अरे बोलते क्यों नहीं ?
(जयदेव केवल सिर हिलाता है।)

कुन्तल : (कुर्सी पर बगल में बैठती हुई) क्यों, क्या बात है ? तबीयत तो ठीक है न ?
(हाँ, ठीक है—इस भाव से पुनः सिर हिलाता है। कुन्तल को हँसी आ जाती है। वह हँसती-हँसती जयदेव की कुर्सी के पीछे से उसके मुँह तक झुक जाती है।)

कुन्तल : (जयदेव के बालों में उँगली फँसाती हुई) यह ढ़ाई मन का सिर क्यों हिलाते हो ? बोलते क्यों नहीं ? मुँह से बोलो, क्या बात है ? नहीं बताओगे तो लो, न बोलो
(बगल में हाथ डाल कर जयदेव को बेतरह गुदगुदाने लगती है।)
न बोलो ?
(जयदेव हँसता हुआ उठ खड़ा होता है।)

जयदेव : बोलो, क्या बताऊँ ?

कुन्तल : प्रेस क्यों नहीं गये ?

जयदेव : मेरी रातरानी ! प्रेस में आज फिर स्ट्राइक है।

कुन्तल : स्ट्राइक है ? तब तो प्रेस में तुम्हारा रहना और भी आवश्यक है।

जयदेव : क्यों ? स्ट्राइक के सम्मान में प्रेस में बैठा रहूँ, ताकि सड़क पर से प्रेस-कर्मचारियों के गंदे-गंदे नारे सुनूँ ? क्यों, यही चाहती हो क्या ? (रुककर) और यह स्ट्राइक तो चलेगी ही अभी।

कुन्तल : क्यो चलेगी ?

जयदेव : प्रेस कर्मचारियों को मेरे इस घर की लक्ष्मी की सहानुभूति जो प्राप्त है !

कुन्तल : ओहो, यह बात ? उस दिन कर्मचारियों के बच्चे यहाँ सुबह ही सुबह आये। मुझे 'माताजी···माताजी, माँ···माँ' कहकर पुकारने लगे। किसी के तन पर न ठीक से कोई कपड़ा था, न किसी का पिछले चार दिनों से पेट भरा था। सब नंगे और भूखे ! क्या करती मैं ?

जयदेव : हाँ-हाँ, माँ और क्या करती ! किसी बच्चे को कपड़ा किसी को रुपया, किसी को बगीचे का पेटभर फल और किसी को···

कुन्तल : (बीच में ही) हाँ, और किसी को ?

जयदेव : इतना कम क्या ! एक को माँ का प्यार मिला। और उसके बाप-दादों को शक्ति मिली—स्ट्राइक जिन्दाबाद !

कुन्तल : तो प्रेस में स्ट्राइक मेरे कारण से चल रही है ?

जयदेव : अच्छा-अच्छा, बात खत्म बाबा ! वरना कहीं तुमने स्ट्राइक कर दी तो···

कुन्तल : यही तो कठिनाई है। धर्म में कहीं 'स्ट्राइक' नहीं है। स्ट्राइक है तुम्हारे अर्थ में। तुम तो एम० कॉम० पास हो, सब जानते हो !

जयदेव : सब जानता होता तो क्या···! (रुककर) सुनो, घर लौट आने का असली कारण था पॉकेट ! आजकल एक कहावत बनी है न, बिन धन न होय न आदर, इसलिए बिना रुपये पाँव न रखो घर से बाहर !

(दोनों की उन्मुक्त हँसी। कुन्तल घर में भागती है। कुन्तल के हाथ की कैंची, जो वह टेबल पर छोड़ गयी थी, जयदेव उसे उठा लेता है और पीछे बढ़कर क्रोटन्स की पत्तियों में कैंची चला देता है। उसी क्षण भीतर से कुन्तल आती है।)

कुन्तल : हाय-हाय ! यह क्या कर रहे हो ? च···च··· च इस पर कैंची चला दी !

जयदेव : कैंची इसलिए बनी है कि वह कहीं न कहीं चलाई जाय। दुःखी हो गयीं तुम ? अच्छा, मैं कल महज़ ढाई रुपये में इससे बड़ा और उम्दा क्रोटन्स तुम्हारे लिए मंगवा दूंगा।

कुन्तल : ये लो रुपये। हर चीज का मूल्य तुम रुपये में ही आंकते हो।

जयदेव : (रुपया पॉकेट में रखता हुआ) यह अर्थयुग है अर्थयुग, 'इकोनॉमिक एज' !

कुन्तल : तभी तो इस युग में मनमाने कैंची नहीं चलाई जा सकती। प्रेस में तुमने यही कैंची चलाई थी न ! एक मशीनमैन को निकाला, दो फोरमैनों की छंटनी की।

जयदेव : हाँ-हाँ ! मैं प्रेस का मालिक हूँ।

कुन्तल : उसे कौन अस्वीकार करता है। पर मालिक का अपना यह भाव अब कर्मचारियों के प्रति बदलना होगा।

जयदेव : तुम कुछ नहीं समझतीं, कुन्तल ! तुम्हारा ज्ञान अभी पुस्तकों तक ही सीमित है, तभी तो तुम कहती हो कि पढ़ी-लिखी स्त्री का क्षेत्र घर है।

कुन्तल : और क्या ?

जयदेव : पर स्त्री को लक्ष्मी कहा गया है।

कुन्तल : पर तुम्हारे अर्थ में नहीं। उस लक्ष्मी का अर्थ रुपया

नहीं है। लक्ष्मी का मतलब अधिकार ही है।

जयदेव : समय के साथ सबका अर्थ बदलता चलता है। इसी का नाम 'प्रोग्रेस' है। आज स्त्री को पत्नी और लक्ष्मी दोनों एक साथ होना है।

कुन्तल : वह सही है, पर तुम्हारे अर्थ में नहीं तुम पत्नी में दो रूप चाहते हो — घर में एक, बाहर दूसरा।

जयदेव : बिल्कुल ठीक, नहीं तो यह गाड़ी कैसे चलेगी? नौकर-चाकर हटाकर खुद अपने हाथ से इतना काम करने से तुम सोचती हो कि बहुत अच्छा होगा। माई डियर, यह गुलाब जैसा मुख, मेरी फुलवारी की इस परी का यह रूप, घर-गृहस्थी की दुपहरी में कुम्हला जायेगा! आदाबर्ज···(तेज़ी से जाने लगता है।)

कुन्तल : सुनो···सुनो तो!

जयदेव : बोलो!

(जयदेव लौटता है। कुन्तल स्नेह से उसकी टाई की गांठ ठीक करती है।)

कुन्तल : एक बजे तक लंच के लिए ज़रूर आ जाना। आज मेरी वह दोस्त आने वाली है न···अरे, वही सुन्दरम्।

जयदेव : सुन्दरम्!

कुन्तल : इतनी जल्दी भूल गये! अरे, परसों शाम हजरतगंज में जिससे हमारी भेंट हुई थी। यहाँ रेडियो स्टेशन पर दिल्ली से बदल कर आयी है—प्रोग्राम एक्ज़ीक्यूटिव। आज शनिवार है न! आज ही तो उसे लंच पर बुलाया है। (रुककर) ज़रूर आ जाना एक बजे तक, हाँ।

जयदेव : एक शर्त पर! लंच के बाद फिर मैं प्रेस नहीं



जाऊँगा! तुम लोग भीतर बातें करोगी और हम लोग बाहर···

कुन्तल : जुआ खेलोगे?

जयदेव : नहीं-नहीं··· ताश खेलेंगे, ताश! ···रन···ट्रेल···फुल वोट···! (जाने लगता है।)

कुन्तल : नहीं-नहीं, तुम्हारे अलावा आज यहां कोई नहीं आ सकता। सुनो जय···जय! सुन्दरम क्या सोचेगी! (दरवाज़े से अकेली लौटती है।)

कुन्तल : (पुकारती है।) माली बाबा!

('आया माँ!' पृष्ठभूमि से यह आवाज़। क्षण-भर बाद माली का प्रवेश। अवस्था पचास वर्ष के लगभग। धोती और ऊनी बनियान, सिर पर अंगोछा बँधा है। सांवला रंग, मझोला कद। सदा कुछ झुककर खड़ा होता है।)

कुन्तल : बाबा, आज चार दिनों से मैं फुलवारी में कामकाज न कर सकी, तुम पर बड़ा बोझ आ गया होगा। मैं बहुत जल्द सब ठीक-ठाक कर लूंगी। प्रेस का मामला सुधर जायगा। तब हम दोनों फुलवारी और आर्चेड के काम में हाथ बटाएँगे।

माली : माँ, इस फुलवारी की किस्मत तो उसी दिन जाग उठी जिस दिन तुम बहू माँ बनकर इस घर में आयीं। मुझे याद है वह दिन, आज चार साल हुए। फरवरी के दिन थे। जिरेनियम खूब फूली थी और फ्रीजिया की महक से चारों ओर···

कुन्तल : (बीच ही में) सुनो बाबा, तुम्हारे फरवरी के चित्र से मुझे अक्तूबर की चिन्ता हो आयी—सुनो, नर्गिस और हेयासिंथ के बल्ब इस साल कुछ कमज़ोर लगे थे क्या?

माली : नहीं तो माँ, सारे बल्ब अच्छे थे। (हँसता है) माँ, ग्लेडिबोलस में नवम्बर में ही इसलिए जल्दी फूल आ गये कि उनमें मैंने एक देशी खाद डाली थी। यह फूल मेरे मालिक को बहुत पसन्द था।

कुन्तल : ओहो, तभी मैं कहूँ ! (हँसती है।)

माली : माँ, विश्वास मानो, मेरे मालिक इंजीनियर साहब अपने स्वर्गवास से दो घंटा पहले मुझे अपने सिरहाने बिठाकर बोले, 'साधू बाबा ! बाग और फुलवारी देखना, अब मैं बिदा ले रहा हूँ।' मैं मालिक का पैर थामकर रोने लगा, माँ ! तब मालिक बोले, 'रोता क्यों है रे साधू ! इस घर में तेरे आशीर्वाद से ऐसी बहू ले आया हूँ जो नन्दनवन की इन्द्राणी होगी, जिसके स्नेह से सब कुछ सदा हरा-भरा रहेगा !'

कुन्तल : (मालिक के चित्र की ओर प्रणाम करके) वह मालिक नहीं देवता थे, बाबा (रुककर) मुझे याद है, मेरे पिताजी का देहान्त हो चुका था। माँ मेरी दिन-रात रोती थी। एक दिन देखती क्या हूँ कि डिप्टी मामा के साथ वही इंजीनियर साहब चले आ रहे हैं। मुझे बुलाकर अपने पास बिठा लिया, माँ से बोले, 'मैं कुन्तल बेटी के पिता प्रिंसिपल साहब पंडित रामचन्द्र शुक्ल के यश और नाम से भली भांति परिचित हूँ। अब यह बेटी आप कृपा कर मुझे दीजिए।' मेरी माँ उनके चरण छूने दौड़ी, उन्होंने माँ को हाथ से रोक लिया; बोले, 'आप पूज्य हैं ! आप मुझे शर्मिन्दा न कीजिए ! अब यह बेटी मेरी हो गयी !' बस, हो गया मेरा ब्याह बाबा !



माली : हमारे भाग से माँ, इस फुलवारी और बगीचे की किस्मत से। सच माँ, इस घर में अगर तुम न मिली होतीं तो फुलवारी के इस स्वर्ग में अब तक पतझड़ आ गया होता।

कुन्तल : पर मेरा दुर्भाग्य भी तो देखो बाबा, ब्याह के पहले ही मेरे पिता का स्वर्गवास और ब्याह के एक वर्ष बाद इस घर के मालिक का···और···

माली : पर माँ, मालिक कितने प्रसन्न थे। माँ, तुम्हारा ही तो हाथ पकड़कर बोले थे वे स्वर्गवास के दिन— कि इस संसार में मेरी सारी मनोकामनाएँ पूरी हो चुकीं !

(सहसा पृष्ठभूमि में सुन्दरम की आवाज़ आती है।)

आवाज़ : कुन्तल ! कुन्तल !

कुन्तल : आ जाओ ! (माली से) बाबा, मेरी सखी आ गई ! जाओ, तुम भीतर सँभालना।

(सुन्दरम बायें दरवाज़े के पास आ जाती है।)

सुन्दरम : कुन्तल !

कुन्तल : (स्वर में स्वर जोड़ती हुई) सुन्दरम !

(सुन्दरम हँसती हुई प्रविष्ट होती है। कुन्तल आह्लाद से भर गई है। सुन्दरम की अवस्था कुन्तल के बराबर ही है। नाम के अनुकूल उसका रूप-रंग। भीतर से उन्मुक्त और सुहृदय।)

सुन्दरम : वाह-वाह ! क्या घर है ! (कुन्तल को बायीं बाँह में कसे हुए) मुकद्दर हो तो ऐसा हो। (पीछे घूमती हुई) ओह ! ऐसा गार्डन ! यह फुलवारी !···यह आर्चेड ! ओह, तुम तो साक्षात् नन्दनवन की इन्द्राणी हो !

कुन्तल : इन्द्राणी नहीं, रातरानी ! जय को इस फुलवारी में सिर्फ रातरानी पसन्द है। वे जब बहुत खुश होते हैं तो मुझे 'रातरानी' कहकर पुकारते हैं।

सुन्दरम : ओ हो !

कुन्तल : जय के पिता की लगाई हुई है यह फुलवारी। बड़े नामी इंजीनियर थे वे।

सुन्दरम : क्या बात है !

कुन्तल : (दिखाती हुई) बगीचे की ज़रा प्लानिंग देखो। चारों ओर चहारदीवारी के किनारे-किनारे युक्लिप्टिस, अशोक, हरसिंगार, कदम, चम्पा और मुचकुन्द ! बीचों-बीच लिलि-पांड और वह दक्षिण दिशा में इतना बड़ा फर्नहाउस, जिस पर लता की बहार देखो—अपराजिता, मालती, झूमकलता, और वह ब्राइडल क्रीपर — बस, फूलने वाली है — वह देखो रजनीगंधा की क्यारी···और वह है रातरानी का कुंज।

सुन्दरम : वाह रे मेरी रातरानी ! खूब है—एक ओर फुलवारी दूसरी ओर आर्चेड ! सुनो ! मुझे तुम अपनी फुलवारी में नौकरानी रख लो न ! सच सुगन्धि मुफ्त में, फल ऊपर से !

कुन्तल : अच्छा-अच्छा, बहुत बनाओ नहीं ! आओ, यहाँ बैठो ! मुझे मालूम हैं तुम्हारे नाटक !
(दोनों कुर्सियों पर बैठती हैं।)

कुन्तल : याद है न, होस्टल में बी० ए० के दीक्षान्त समारोह की रात में तुम्हारा वह प्रहसन ? तुमने लेडी वार्डन मिसेज़ सिंह और प्राक्टर की कैसी नकल उतारी थी !



सुन्दरम : (हँसती है) कुन्तल, वह क्या ज़माना था ! सच, जब से नौकरी में आयी हूँ, तब से ऐसे-ऐसे लोगों को देखा है कि जी करता है एक-एक की नकल किसी चौराहे पर खड़ी होकर उतारूँ ! (रुककर, सहसा) सुनो, तुम्हारे वे कहाँ हैं—जयदेव बाबू ?

कुन्तल : प्रेस गए हैं—अभी थोड़ी देर में वे आ जायेंगे। क्या बताऊँ मजबूरन उन्हें जाना पड़ा—प्रेस में स्ट्राइक चल रही है।

सुन्दरम : तो काफी बड़ा प्रेस है ?

कुन्तल : हाँ, क्यों नहीं, करीब सौ-सवा सौ कर्मचारी हैं। हमारे बाबूजी—इंजीनियर साहब की कमाई यह प्रेस भी है।

सुन्दरम : इसके माने फुलवारी की मालकिन तुम और प्रेस के मालिक तुम्हारे वे··· चलो, बड़ा अच्छा बँटवारा है।

कुन्तल : अरे, पति-पत्नी में बँटवारा नहीं चलता। ब्याह करोगी तो पता चलेगा।

सुन्दरम : मैं और ब्याह ? क्या करूँ, कहीं किसी पुरुष ने इतनी तपस्या ही नहीं की है।
(दोनों हँसती हैं।)

सुन्दरम : सुनो-सुनो एक मज़ेदार बात ! (रुककर) मैं दिल्ली में जिस फ्लैट में रहती थी, सामने एक सज्जन रहते थे —अविवाहित, नौजवान, एकाउंट ऑफिसर। संयोग से मेरी ही जात-बिरादरी के। अहा-हा! मुझ गरीब से उन्हें प्रेमी-रूपी गलतफहमी का इंफ्लुएंजा हो गया। मैंने भी अपना टेम्प्रेचर थोड़ा-सा बढ़ा लिया। एक दिन मेरठ से मेरा भाई आया—वही विजय अब कैप्टन हो गया है। मैं

दिन भर भाई के साथ हँसती-खेलती रही और रात को हम 'सेकेण्ड शो' सिनेमा देखकर लौटे। प्रेमी साहब तब तक जागते और खिड़की खोलकर हमें देखते रहे। चार बजे विजय मेरठ चला गया। मैं अकेली साढ़े आठ बजे तक सोती रही। प्रेमी साहब समझे ···(उठ खड़ी होती है और दरवाजे की ओर बढ़ती है।)

कुन्तल : क्या बात है, बोलो ?

सुन्दरम : सुनो, जयदेव बाबू के पास 'गाउन' होगा ?

कुन्तल : (उठती हुई) हाँ-हाँ, है तो। क्या करोगी ?

सुन्दरम : जरा लाओ तो, मैं आज उसकी नकल उतार ही दूँ, तुम भी क्या कहोगी !

कुन्तल : हाँ-हाँ, आओ, बड़ा मज़ा रहेगा···अन्दर चलो न ! (हँसती हुई कुन्तल के साथ सुन्दरम तेजी से अन्दर जाती है। क्षण भर बाद कुन्तल वापस लौटती है, और हँसी के मारे दीवान पर लोट-पोट हो जाती है।)

कुन्तल : सुन्दरम ! यू आर ग्रेट सुन्दरम ! अगले जन्म में तुम पुरुष होना, मैं तुम्हारी पत्नी बनूँगी। तुम मुझे जब पुकारोगी···नहीं-नहीं, पुकारोगे कि 'ओ री हो कुन्तल, तुम कहाँ हो ?' तब मैं चाँदनी के झूले पर से बोलूँगी, मैं 'तुम्हारे लिए फूलों का हार बना रही हूँ !' (भावोद्रेक में गा उठती है।)

'लाई हूँ फूलों का हार
लोगी मोल, लोगी मोल
तरल तुहिन वन का उल्लास
लोगी मोल, लोगी मोल ?
फैल गई मधुऋतु की ज्वाल
जल-जल उठती वन की डाल
कोकिल के कुछ कोमल बोल
लोगी मोल, लोगी मोल ?
फूट रहे नव-नव जलस्रोत
जीवन की ये लहरें लोल
लोगी मोल, लोगी मोल ?

(सुन्दरम जयदेव का चप्पल, पजामा, गाउन पहने और सिर के केश पर उसी का मफलर बाँधे—जिससे कि सिर-केश पूर्णतः छिप गया है—और हाथ में छड़ी लिए हुए बिल कुल नये अन्दाज में आती है।)

सुन्दरम : (आते ही) सावधान ! चलो सलाम करो, सलाम !

कुन्तल : (उठकर) सलाम, साहब !

सुन्दरम : ऐसे नहीं, जरा कुँआरी लड़की की तरह शर्माती हुई इस तरह कहो—जी···जी, नमस्ते !

(कुन्तल उसी प्रकार कहने का प्रयत्न करती है।)

सुन्दरम : नहीं बना न ! अरे, यह शादी लड़कियों को खाम-खाह गंभीर बना देती है। खैर, कोई बात नहीं। लेट जाओ इसी दीवान पर और सो जाओ !

(कुन्तल वही करती है।)

सुन्दरम : अब जरा कल्पना करो कि तुम सुन्दरम हो, दिल्ली के उसी फ्लैट में सोयी हुई और मैं तुम्हारा वही प्रेमी पुरुष हूँ—एकाउंट ऑफिसर ! मैंने तुम्हारा बन्द दर-वाजा खटखटाया। तुमने नींद में आँखें बन्द किए दर-वाजा खोल दिया, समझा कि दूध-मक्खन वाला आया है और फिर तुम उसी तरह सो गयीं। (रुककर) अच्छा अब नकल शुरू—तुम बेखबर सो जाओ।

(कुन्तल सो जाती है। सुन्दरम दरवाजे पर जाकर नकल करती हुई कमरे में बढ़ती है।)

सुन्दरम : (बेहद तेज बोलती हुई) क्यों जी, यह कौन-सा तरीका है कि तुम इस तरह रात-रात भर जगती हो और इतने दिन चढ़े तक सोती हो ? भूल जाती हो, 'अर्ली टु बैड एण्ड अर्ली टु राइज़, दैट इज़ द वे टु बी हैप्पी एण्ड वाइज़।'[1] (गम्भीर मुद्रा बनाकर चुप, कुछ क्षणों बाद) बोलो, वह कौन था मिलिट्री का आदमी जो तुम्हारे कमरे में आया था ? मुझे यह ज़रा भी पसन्द नहीं कि तुम किसी गैर आदमी के संग इस तरह हँसो-बोलो ! इतनी रात तक तुम उसके साथ घूमो ! (सहसा तेज आवाज़) सुनती हो कि नहीं ! (सहसा धीमे स्वर में) ओहो, नहीं सुन रही हो तुम ! अच्छा, सो जाओ, माफ किया मैंने तुम्हें। (फिर तेज स्वर में) पर आइन्दा ऐसी गलती नहीं होनी चाहिए।

( सुन्दरम तेजी से दरवाज़े की ओर बढ़ती है। तभी बाहर से आवाज़ आती है।)

पहली आवाज़ : जयदेव !

दूसरी आवाज़ : अरे, हम लोग हैं भाई !

सुन्दरम : (तेज़ी से लौटकर) कौन लोग हैं ? अरे, झट बोलती क्यों नहीं ! कौन हैं ये ?

कुन्तल : क्या बताऊँ, सुन्दरम ! ये लोग हैं जय के मित्र। ताश खेलने पहुँच गये। मैं तो परेशान हो गई हूँ इनसे। पर करूँ क्या ?

प० आवाज़ : जयदेव !

दू० आवाज़ : जयदेव !

प० आवाज़ : भाभी जी, जयदेव बाबू प्रेस से आ गये न !

(कुन्तल दरवाज़े की ओर बढ़ती है, सुन्दरम रोक लेती है।)

१. 'स्वस्थ और प्रसन्न रहने का तरीका है—जल्दी सोना, जल्दी उठना।'



सुन्दरम : कह दो जयदेव बाबू हैं। (अपनी ओर इशारा करती है।)

कुन्तल : ( हँसी रोकती हुई ) जी आइये।

(यह कहकर कुन्तल भीतर भाग जाती है। बाहर से योगी और प्रकाश आते हैं। दोनों की अवस्था प्राय: पैंतीस वर्ष है। योगी काली पैंट और पुलओवर पहने है, प्रकाश पैंट और कमीज। सुन्दरम बुक-रैक के पास खड़ी हो पुस्तक पढ़ने में डूबी हुई है।)

योगी : अभी-अभी सोकर उठे हो क्या ??

प्रकाश : नहीं भाई, गार्डन में से टहल कर आये हैं अभी।

योगी : देखो, मैं कह रहा था न कि जयदेव प्रेस में नहीं, घर में ही अभी मिल जायेगा।

(दोनों दीवान पर बैठ जाते हैं। योगी पॉकेट से ताश के पत्ते निकालता है।)

प्रकाश : अजी किताब क्या पढ़ रहे हो ? इधर आओ न !

योगी : (ताश फेंटते हुए) बस आ जाओ जल्दी, हाँ !

प्रकाश : यार, क्या खड़े-खड़े नखरे दिखा रहे हो वहाँ !

सुन्दरम : (मोटी गम्भीर आवाज़ में) खबरदार, मैं जयदेव नहीं, उसके पिता की आत्मा हूँ।

प्रकाश : (सभय) आत्मा !

योगी : जयदेव के कपड़े पहने हुए।

(दोनों उठकर सप्रश्न एक-दूसरे को देखते हैं।)

योगी : सब झूठ है, यार। आत्मा न फात्मा !

प्रकाश : पर यह अपना जयदेव तो नहीं है — इतना तो तय है (पुकारता है) भाभीजी, क्या मामला है यहाँ ?

योगी : घबरा गये ! रुको मैं देखता हूँ। (बढ़कर) आप आत्मा हैं, इसका सबूत ?

सुन्दरम : सबूत ! सबूत ! (बनावटी हँसी। फिर सिर से मफलर उतारकर उनकी ओर फेंकती है) यह लो सबूत !

प्रकाश : (घबराकर) आँय !

योगी : यार, यह तो कोई औरत है !

सुन्दरम : आत्मा स्त्री ही होती है मूर्ख !

(दोनों की बोलती बंद हो जाती है।)

सुन्दरम : मैं यही देखने आयी थी कि मेरे घर में अब किस तरह के लोग आते हैं, जयदेव का चाल-चलन कैसा है, उसके मित्र लोग कैसे हैं।

योगी : (सहसा विनम्र) बाबूजी, हम लोगों का चाल-चलन बहुत अच्छा है।

प्रकाश : हम दोनों का चरित्र बहुत उत्तम है।

सुन्दरम : खबरदार ! अगर अब तुम लोगों ने जयदेव के संग ताश खेला !

प्रकाश : नहीं जी नहीं, अब बिल्कुल नहीं !

योगी : आप इतमीनान रखिए जी !

(दोनों तेजी से निकल जाते हैं। कुन्तल जो अभी तक हँसी का तूफान दबाये भीतर दरवाजे पर छिपी हुई थी, फूटकर हँस पड़ती है। सारा दृश्य उसकी अबाध हँसी से रँग उठता है। सुन्दरम भीतर चली गयी है।)

कुन्तल : (दीवान पर गिरती हुई) ओहो ! हद कर दी तूने सुन्दरम ! (बैठती हुई) एक साहब बोले—मैं चरित्रवान हूँ बाबूजी ! (फिर हँसी) दूसरे साहब बोले—मेरा चाल-चलन बहुत अच्छा है, बाबूजी (हँसती है।)

(इतने में भीतर से अपने कपड़े बदलकर सुन्दरम आती है।)

सुन्दरम : अब बोलो ! तबीयत बाग-बाग हो गयी न !

कुन्तल : अद्‌भुत हो तुम, सुन्दरम ! तभी मैं कहूँ कि तुम शादी क्यों नहीं करतीं !

(सुन्दरम बेंत की कुर्सी पर बैठ जाती है।)

सुन्दरम : (केश ठीक करती हुई) क्या करूँ, अपने हाथ में तो शादी की रेखा नहीं है। (हाथ दिखाती है) क्यों, देखो न !

(कुन्तल आकर बायीं ओर कुर्सी पर बैठ जाती है और सुन्दरम का हाथ अपने अंक में बाँध लेती है।)

कुन्तल : शादी की रेखा हथेली में नहीं होती···आँखों में होती है, आँखों में ! उसे कौन देखे !

सुन्दरम : कोई जरूरत भी नहीं। पढ़ी-लिखी लड़कियों का यह सारा विवाह का चक्कर बड़ा ही अपमानजनक है। पति के माने इज्जत-मर्यादा नहीं, जो विवाह के बाद कन्या को वर से मिलती है। बल्कि पति के अर्थ होते हैं मालिक, मालिक माने खुदा नहीं, मालिक माने गुलामवाला मालिक ?

कुन्तल : पर ऐसा क्यों है सुन्दरम ? इतने पढ़े-लिखे पुरुष इतने···

सुन्दरम : मेरी समझ में तो इसका एक ही कारण है—पिछले करीब एक हज़ार वर्षों से हमारे समाज का मन सिर्फ मालिक और गुलाम ही देखता आया है। वही एक मर्यादा, वही एक सम्बन्ध !

(दोनों चुप रह जाती हैं।)

कुन्तल : पहले मेरी शादी पिताजी ने यहीं एक दूसरे लड़के से तय की थी।

सुन्दरम : तो···

कुन्तल : विवाह की तारीख भी निश्चित हो गयी, फिर···

सुन्दरम : फिर क्या ?

कुन्तल : दहेज में रुपयों की कमी के कारण शादी टूट गयी।

मेरे पिताजी लड़के वालों को अपनी खुशी से पाँच हज़ार रुपये दहेज में दे रहे थे। किन्तु लड़के के पिता एडवोकेट साहब आठ हज़ार से एक रुपया भी कम नहीं कर रहे थे। मेरी वह शादी क्या टूटी, पिताजी ही टूट गये। ऐसा सदमा पड़ा उन पर कि पूरे एक वर्ष तक बीमार पड़े रहे। उस बीमारी में तीन हज़ार रुपये लग गये, पर पिताजी को इस बीमारी से कोई न बचा सका। मेरे ब्याह का स्वप्न लिए हुए पिताजी स्वर्ग चले गये (गला रुंध जाता है, आँखों में आँसू छलक आते हैं।)

सुन्दरम : पर तुम भाग्यवान हो, कुन्तल। पति इतने बड़े प्रेस मालिक, और ऐसा बंगला, यह बाग फुलवारी की रियासत···

कुन्तल : प्रेस कहाँ बड़ा रह गया, सुन्दरम ! आये दिन तो स्ट्राइक होती रहती है। जय तो प्रेस में बैठता ही नहीं। हरदम घूम-फिर, होटल रेस्तराँ, कॉफी-हाउस, पिक्चर। यहाँ घर पर ताश-रमी, फ्लैश। मैं जय को मना भी कैसे करूँ। अपने पिता के इकलौते लड़के। पिताजी इनके नाम पिचहत्तर हज़ार रुपये बैंक में छोड़कर गये। सदा से आज़ाद तबीयत, खुले हाथ। (रुककर) पिछली जुलाई से इस घर का 'बजट' सँभाले नहीं सँभलता था। फिर मैंने बजट में से दो कटौतियाँ कर दीं। यहाँ से टेलीफोन कटा दिया। बाहर के काम-काज के लिए एक नौकर था, उसे हटा दिया।

सुन्दरम : अरे रे ! फिर यह सरा काम-काज कैसे होता है ?

कुन्तल : मैं खुद करती हूँ काम।



सुन्दरम : और इस गार्डन का काम !

कुन्तल : माली है। जब काम बढ़ जाता है तो माली और आदमी कर लेता है। (रुककर) बाग से काफी आमदनी है। फुलवारी का सारा खर्च निकल आता है। माली की तनख्वाह, और कुछ बच भी जाता है।

सुन्दरम : कुन्तल तुम्हें तो भारत सरकार के गृह-मंत्रालय में होना चाहिए।

कुन्तल : मेरा यह घर क्या कम है उससे ! (हँसती है) और मज़े की बात सुनो—जय साहब मुझसे बार-बार कहते हैं कि कुन्तल, तुम्हें नौकरी करनी चाहिए।

सुन्दरम : तुम और नौकरी ! (ठहाका मार कर हँसती है) नौकरी और तुम ! (हँसती है)

(उसी बीच जयदेव का बाहर से प्रवेश)

जयदेव : (अप्रसन्न) यह क्या तमाशा करती हो घर में बैठे-बैठे ? यह सब मुझे कतई पसन्द नहीं।

(जयदेव सीधे भीतर चला जाता है। पीछे-पीछे कुन्तल जाती है।)

जयदेव : (घर में से) माली ! इधर आओ !

माली : (फुलवारी में से) आया भैया !

(कुन्तल आती है। सुन्दरम इसी बीच उठकर बुक-रैक में से एक किताब निकालकर देखने लगती है।)

कुन्तल : माफ करना, सुन्दरम ! तुमने जो आत्मा बनकर उनके दोस्तों को बेवकूफ बनाया है उसी के लिए मुझ पर बिगड़ रहे हैं। तुम बुरा मत मानना, हाँ !

सुन्दरम : (हँसती है) जय को कैसे पता चल गया कि वह मैं ही थी।

कुन्तल : उन दोनों ने प्रेस में जाकर जब उन्हें सारी बातें बतायीं तो उन्होंने असलियत जान ली। दरअसल

उन दोनों ने इन्हें नाराज़ करके भेजा है। (जाती हुई) मैं अभी आयी। (प्रस्थान)

(सुन्दरम पुस्तक देखने लगती है। खीझे हुए योगी का प्रवेश। सुन्दरम उसे देखते ही पुस्तक में आँखें गड़ा लेती है। योगी दीवान पर बैठता है। दोनों गम्भीर हैं, पर दोनों एक-दूसरे की आँखें बचाकर एक-दूसरे को देखना चाहते हैं।)

सुन्दरम : (जोर-जोर से पुस्तक पढ़ती हुई) पुरातन काल से भारतवर्ष में आत्मा अमर मानी गयी और ऐसा प्रत्यक्ष देखा भी जाता है कि किसी अच्छे घराने का लड़का जब अपने दोस्तों की बुरी संगत में फँस जाता है तब उसकी निगरानी के लिए बाप-दादों की दिवंगत आत्माएँ पुत्र का कपड़ा पहनकर अवतरित होती हैं। और जब यह आत्मा बुरे दोस्तों को रँगे हाथों पकड़ लेती है तब वे नाहक ही लाल-पीले होने लगते हैं। अब यह सोचने की बात है, इसमें बेचारी आत्मा का क्या दोष ?

योगी : (कब से गुस्से को दबाता हुआ) देखिए, मैं आपसे परिचित नहीं हूँ, आपको यह सब शोभा नहीं देता !

सुन्दरम : (उसी तरह पुस्तक पढ़ती हुई) आत्मा एक बहुत अच्छी चीज़ होती है। यह आत्मा अजन्मा, शाश्वत और पुरातन है। शरीर का नाश होने पर भी इसका नाश नहीं होता।

योगी : आपका दिमाग तो नहीं खराब है !

सुन्दरम : डरपोक लोग आत्मा से चिढ़ते और खीजते रहते हैं।

योगी : तो आप खामोश नहीं होंगी ?

सुन्दरम : आत्मा का कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः। न चैनं क्लेदयान्त्यापो न शोषयति मारुतः।'[1]

योगी : (क्रोध से चीखकर) बंद कीजिए यह बकवास !

(खड़ा हो जाता है और आवेश में जाने लगता है।)

जयदेव, मैं जा रहा हूँ !

(पीछे जयदेव और कुन्तल खड़े हँस पड़ते हैं।)

जयदेव : (योगी को रोकता हुआ) रुको, यार रुको···योगी··· योगी···(पुकारते हुए बाहर चला जाता है। पुनः अकेले लौटकर) तो आप में बड़े-बड़े गुण हैं !

सुन्दरम : जी, मुझे कह रहे हैं ?

जयदेव : जी हाँ, सुन्दरमजी से यह कह रहा हूँ। सुनिये, आपका नाम बड़ा साउथ इंडियन है।

सुन्दरम : घबराइए नहीं। मेरा नाम बड़ा ही शाकाहारी है—कुलवंती देवी श्रीवास्तव।

कुन्तल : यह 'सुन्दरम' नाम हम लोगों का दिया हुआ है।

जयदेव : (दीवान पर बैठता हुआ) देखो कुन्तल, तुम में और तुम्हारी सखी में कितना अन्तर है ! जानती हो इसका कारण इन्होंने अपने-आपको घर की चहारदीवारी में बंद नहीं कर रखा है। नौकरी करती हैं, और···

सुन्दरम : (बीच ही में) माफ कीजिएगा, पर मेरे घर नहीं है।

जयदेव : इससे क्या ! आज हर स्त्री-पुरुष को अपने दो व्यक्तित्व रखने पड़ेंगे।

कुन्तल : (जो बीच में खड़ी है अभी तक) सुन लो जय की ये बातें!

जयदेव : बिल्कुल, इन्हें नौकरी जरूर करनी चाहिए !

---

१. 'इसे न तो शस्त्र काट सकते हैं, न आग जला सकती, न पानी गला सकता है और न हवा सुखा सकती है।'

सुन्दरम : इसकी कोई जरूरत आ पड़ी है क्या !

जयदेव : जरूरत हो या नहीं। मैं नौकरी इनके लिए आवश्यक समझता हूँ। फर्स्ट क्लास बी० ए० की डिग्री, मोरिस कॉलेज से 'संगीत विशारद'···आखिर घर में बैठे इसकी उपयोगिता क्या है ?

सुन्दरम : उपयोगिता ! ···इतने उम्दा घर में बैठकर शान्ति से प्रिया के मुख से संगीत सुनिये।

जयदेव : मुझे संगीत में कोई दिलचस्पी नहीं।

कुन्तल : सुन्दरम, समझाओ इन्हें। मैं तो इनसे कभी तर्क नहीं कर पाती।

जयदेव : क्यों नहीं ! दो ज़बरदस्त तर्क तो हैं तुम्हारे पास ! तुम्हारा पहला तर्क—नौकरी करने का मेरा संस्कार नहीं है। तुम्हारा दूसरा तर्क--जितना धन हमें मिलता है वह काफी है हमारे लिए।

कुन्तल : अच्छा चलो, भोजन कर लो, फिर बातें कर लेना।

जयदेव : जिस घर में धन की कमी हो, सुख-साधन की सीमा हो, वहाँ संगीत और कला का कोई मतलब नहीं।

(कुन्तल आहत दृष्टि से जय को देखती रह जाती है और वह चुपचाप भीतर चली जाती है। दृश्य में एक क्षण के लिए सन्नाटा छा जाता है।)

सुन्दरम : (उठकर किताब बुक-रैक में रखती है) जयदेव बाबू, कभी आपने देखा है उन घरों को जहाँ की पत्नियाँ बाहर नौकरी करती हैं ?

जयदेव : जी हाँ, एक नहीं बीसों घर देखे हैं मैंने। मेरा यही दोस्त योगी, जिसे आपने अभी नाखुश किया है, उसकी पत्नी हॉस्पिटल में नर्स है।

सुन्दरम : और योगी साहब क्या हैं ?



जयदेव : टैक्स-इंस्पेक्टर। दोनों खूब कमाते हैं और मज़े से खर्च करते हैं। खुश हैं दोनों।

सुन्दरम : खुशी की परिभाषा उनकी और होगी।

जयदेव : आप भी इसी तरह सोचेंगी ? (रुककर) दुनिया कहाँ से कहाँ चली गई और आप लोग हैं कि वहीं सीता-सावित्री के ही युग में खड़ी सोचती हैं। आपको मालूम है···मैं आपको बता रहा हूँ, कुन्तल से कहियेगा नहीं। कुन्तल के पिताजी ने अपनी इस बेटी की शादी पहले···

सुन्दरम : जी, वह घटना मालूम है मुझे।

जयदेव : फिर सोचिए, रुपये का महत्त्व क्या है ! रुपये के कारण इस तरह शादियाँ टूट सकती हैं। रूप, चरित्र, विद्या और कला-साहित्य इन सबसे बड़ा रुपया है, रुपया ! मैं कुन्तल को बेहद प्यार करता हूँ। वह कुन्तल का और मेरा एक व्यक्तित्व है—घर का ! पर मैं कुन्तल को समान रूप से उपयोगी देखना चाहता हूँ--यह मेरा उसका बाहर का व्यक्तित्व होना चाहिए।

(कुन्तल तेजी से प्रविष्ट होती है।)

कुन्तल : मेरे पास सिर्फ एक ही व्यक्तित्व है।

जयदेव : आज सिर्फ उस व्यक्तित्व का अपने आप में कोई मूल्य नहीं है। नहीं तो एडवोकेट साहब ने तुम्हारे पिता से इतना दहेज न माँगा होता और न वहाँ···

(कुन्तल चुप जय का मुँह देख रही है।)

सुन्दरम : जय बाबू ! आपको ऐसा नहीं कहना चाहिए !

कुन्तल : नहीं सुन्दरम, इन्हें आज सब कुछ कह लेने दो।

जयदेव : (हँसकर) देखिए सुन्दरम जी, आप भी मुझे गलत न

समझिए। ये बातें मैं अपने पहले व्यक्तित्व से नहीं कह रहा हूँ—दूसरे वाले व्यक्तित्व से कह रहा हूँ।

सुन्दरम : पर इसे सहने के लिए कुन्तल के पास दूसरा व्यक्तित्व नहीं है।

कुन्तल : कोई बात नहीं सुन्दरम ! (जय से) आज आप अपने उस व्यक्तित्व से बातें कह डालिए। कहिए कि बिना दहेज के आपने मुझसे शादी की ! कहिए कि आपने एक ब्राह्मण कन्या को सुहाग दान दिया !

जयदेव : कुन्तल !

कुन्तल : आपको रुपया चाहिए; इसीलिए मुझे नौकरी करनी चाहिए ! ठीक है···सच कहते हैं आप !

जयदेव : कुन्तल ! इतना नाराज़ हो गयीं तुम ?

कुन्तल : नहीं, बिल्कुल नहीं। नाराज़ होने का अधिकार मुझे नहीं है ! (सुन्दरम से) आओ भीतर चलें !

(दोनों का प्रस्थान)

जयदेव : (पुकारता है) माली !

(भीतर से आवाज़—'आया भैया !')

जयदेव : चलो इधर !

(माली का प्रवेश)

जयदेव : (कुर्सी पर बैठता हुआ) बाग का फल देखने कोई कुँजड़ा आया था न ?

माली : बाग के दरवाजे पर आया था, मैंने उसे बगीचे में नहीं आने दिया।

जयदेव : क्यों ? बोलो, क्या बात है ?

माली : मेरे मालिक के बाग में आज तक कोई कुँजड़ा नहीं घुसने पाया है और आप भैया, उस कुँजड़े को बाग में ठिकाना चाहते हैं। भैया, आपको कितना रुपया



चाहिए, मुझे बताइए।

जयदेव : देखते नहीं, प्रेम में स्ट्राइक चल रही है।

माली : क्यों चल रही है ? मालिक जब तक थे, तब तो ऐसा नहीं होता था !

जयदेव : तो सारा दोष मेरा है !

माली : पता नहीं !

(माली भीतर चला जाता है। जयदेव अपनी कुर्सी से उठकर दीवान पर बिखरे हुए ताश के पत्तों को उठा लेता है और उन्हें फेंटने लगा है। फिर बेंत की कुर्सी पर बैठ कर टेबल पर ताश के पत्तों से चुपचाप खेलने लगता है। भीतर से कुन्तल आती है।)

कुन्तल : चलो, भोजन कर लो।

जयदेव : तुम बहुत नाराज़ हो, कुन्तल ?

कुन्तल : नहीं तो ! अन्दर चलो ! उठो, भोजन ठंडा हो रहा है।

जयदेव : (उठकर कुन्तल के पास जाता है। अत्यन्त स्नेह से) 'क' माने कुन्तल !

कुन्तल : और 'ज' माने !

जयदेव : माई डार्लिंग !

कुन्तल : ओहो ! यह सब भाषा कहाँ से बोलने लगे तुम ? मुझे यह सब अच्छा नहीं लगता !

जयदेव : तो मैं तुमसे प्रेम की भाषा न बोलूँ ? मैं तुम्हारे प्रेम का हकदार नहीं हूँ क्या ? शायद तभी तुमने विवाह से पूर्व मुझे कोई प्रेम-पत्र नहीं लिखा। क्यों ! (मुस्कराता हुआ) मुझे सब मालूम है, हाँ !

कुन्तल : क्या मालूम है, बताओ न !

जयदेव : नहीं बताता ! क्यों बताऊँ ?

कुन्तल : तुम्हें बताना होगा !

जयदेव : देखो, इस तरह नाराज़ होकर मुझसे बोलोगी, तो मैं नहीं बताऊँगा हाँ ! (रुककर) सुनो—जहाँ तुम्हारी पहली शादी पक्की हुई थी···

कुन्तल : हाँ, तो !

जयदेव : तो वहाँ तुमने खत लिखे थे !

कुन्तल : हाँ, लिखे थे···निरंजन बाबू को, जिनसे मेरी शादी तै हुई थी !···क्यों, क्या बात है ?

जयदेव : कुछ नहीं !

कुन्तल : पर खत की यह बात तुमसे किसने कही ?

जयदेव : क्यों, क्या हो गया ?

कुन्तल : पर यह तुमसे किसने कहा ? बताओ, नहीं तो इस दीवार से मैं अपना सिर फोड़ लूँगी !

जयदेव : किसी होटल में बैठा था, वहीं किसी ने यह बात चलायी थी ।

कुन्तल : कब ?

जयदेव : यही पिछले साल ।

कुन्तल : तब से तुम चुप क्यों थे ?

जयदेव : मेरा स्वभाव तुम जानती हो । मुझे किसी चीज की कोई जल्दी नहीं रहती । मैं बातें छिपा रखने का आदी हूँ ।

कुन्तल : तो···

जयदेव : तो क्या ? खत्म हुई बात !

कुन्तल : बात कैसे खत्म हुई । बात तो शुरू हुई आज !

जयदेव : ओहो ! मेरा पूछना ही कसूर हो गया !

कुन्तल : आपका क्या कसूर ! मूल अपराधिनी तो मैं हूँ, स्त्री का जन्म पाकर । यह हृदय पाकर । माता-पिता के द्वारा पत्नीत्व का आदर्श पाकर ! इस शरीर पर यह



चिकनी चमड़ी पाकर । काश, मैंने भी तुम्हारी तरह दुनिया देखी होती ।

जयदेव : चुप भी रहो, कुन्तल !

कुन्तल : मैं अब चुप नहीं रहूँगी; जब तक खतों को निरंजन से पाकर तुम्हें दें न दूँगी । आपने लखनऊ में रहकर खूब दुनिया देखी है न ! पर आपने मुझ जैसी की दुनिया नहीं देखी होगी !

जयदेव : निरंजन बाबू क्या तुम्हें वे सब खत वापिस दे देंगे ?

कुन्तल : क्यों नहीं देंगे ? और यदि वे नहीं भी देंगे, तब भी मैं तुम्हें अपनी पूरी-पूरी परीक्षा दूँगी, याद रखना, मेरा पूरा नाम शकुन्तला है । (भावावेश में) 'यूयमेव प्रमाणं जानीथ धर्मस्थितिं च लोकस्य । लज्जावि-निर्जिता जानन्ति न किमपि महिलाः ।'[१]

(यह कहती हुई कुन्तल भीतर चली जाती है । जयदेव उसे देखता रह जाता है ।)

---

१. 'आप जैसे लोग ही तो अब प्रमाण हैं और धर्म की स्थिति और लोक की मर्यादा के जानकार हैं । बेचारी, प्रकृति से लज्जाशील महिलाएं क्या जानें ।)

# दूसरा अंक

## पहला दृश्य

(करीब दो हफ्ते बाद, फिर वही पर्दा उठता है। प्रकाश और योगी दीवान पर बैठे हैं, जयदेव मूढ़े पर। तीनों ताश खेल रहे हैं। संध्या के पाँच बज रहे हैं।)

योगी : लो, जयदेव बाबू, 'शो' करो।

जयदेव : बस इसके आगे नहीं! मैं तो समझता था अभी और चलोगे। यह लो (पत्ते दिखाता हुआ), महज़ 'रन'।

प्रकाश : (पत्ते बाँटता हुआ) अरे भाई, 'ट्रेल' और 'रन्' से नीचे बात नहीं करते जयदेव साहब!

योगी : अब तो दसों उँगलियाँ घी में हैं! पत्नी को इतनी अच्छी नौकरी मिल गई (पत्ते उठाता हुआ) कितनी तनख्वाह है?

जयदेव : ढाई सौ है! यूनिवर्सिटी के म्यूज़िक विभाग में अध्यापक। वहाँ काम ही कितना है?

प्रकाश : कमाल है। इधर बीवी को नौकरी के लिए तैयार किया, उधर झट से 'एप्वाइंटमेंट' मिल गया।

योगी : भाई, यह लो मेरी चाल।

प्रकाश : मेरी भी।

जयदेव : मेरी एक और।

योगी : मेरी एक चाल और! (रुककर) यार, तुम्हारी 'नाटक क्वनी' के आने का समय हो गया होगा। जल्दी करो। मुझे डर लगता है···भाई, अपन तो डाउन।

प्रकाश : मेरी एक चाल और!

जयदेव : तो शो कर दो।

प्रकाश : यह लीजिए। (पत्ते दिखाता है।)

योगी : बादशाह का ट्रेल! वाह! जयदेव के पत्ते इस बार तुम्हें कैसे मिल गये!

प्रकाश : भई, मेरे साथ भी मेरी बीवी की किस्मत है।

(तीनों की हँसी। उसी समय बाहर से कुन्तल का प्रवेश। पीली साड़ी पर सफेद शाल ओढ़े हुए। खेलने वालों पर एक दृष्टि डालकर चुपचाप भीतर चली जाती है।)

जयदेव : (उठकर) अच्छा खेल खत्म करो यहीं। प्लीज़!

योगी : (उठकर) अच्छा तो बीवी के रोब में आ गये!

प्रकाश : (उठकर) रोब की बात नहीं! कुन्तल भाभी के प्रति मेरे मन में बड़ी इज़्ज़त है।

योगी : और उसके प्रति···वही जिसने आत्मा का अभिनय करके हमें हलाल किया था!

प्रकाश : अरे वह सुन्दरम! आय-हाय!

योगी : मैं तो तभी से उस पर कुर्बान हूँ प्यारे!

प्रकाश : और मैं तो कत्ल हो गया! आहा-हा! क्या चीज़ है वह!

जयदेव : यह क्या बकवास है!

प्रकाश : तुम्हारे लिए यह बकवास है!

योगी : अबे चलो अब···उस चीज़ के बारे में जयदेव से क्या बात करते हो?·· अच्छा भाई, चल दिये अब!

जयदेव : तो आठ बजे 'ओरिएण्ट होटल' में ।

प्रकाश : बिल्कुल ठीक ।

योगी : अरे जयदेव, हम लोगों को ज़रा 'सी ऑफ' तो कर दो !

(दोनों के साथ जयदेव का बाहर प्रस्थान । कुन्तल फुलवारी में दीख पड़ती है । पीछे माली खड़ा है । कुछ ही क्षणों में कुन्तल माली के संग बात करती हुई कमरे में प्रविष्ट होती है । उसी क्षण बाहर तीनों की तेज हँसी ।)

कुन्तल : यह बहुत बुरी बात है, माली बाबा ! तुमने आज दिन भर उपवास किया है । (दीवान पर बैठ जाती है ।)

माली : क्या करूँ, माँ ! मुझसे भोजन नहीं बनाया गया ! (रुककर) आज से तीन साल पहले, जब मालिक मुझे यहाँ ले आये थे, तो इस घर के आंगन में मुझे बैठाकर उन्होंने कहा था —'साधू, तुम मेरे बगीचे के माली ही नहीं, इस पूरे घर के मालिक हो ।' धन्य थे वे ! बहुत बड़ी आत्मा थी उनकी । कहाँ वे ब्राह्मण, कहाँ मैं रैदास ! माँ ! मालिक कहा करते थे —मानुष ईश्वर की लिखी हुई एक पाती है—हमें पाती का मज़मून देखना चाहिए, उसकी जात-पांत, रूप-रंग देखने से क्या ! मालिक मेरे असली गुरु थे, माँ ! (बोलते-बोलते रुक जाता है) माँ, आप उदास न हों, भैया ने ठीक ही आर्डर किया था कि मेरा भोजन अब चौकें में नहीं बनेगा ! हाँ, ठीक ही तो है, कैसे बनेगा, माँ ! आप पर भी इतना काम आ गया । (स्नेह से) तुम मेरी चिंता न करो माँ, मेरा जो असली काम है, उसमें कोई त्रुटि न होगी ! मालिक ने मुझे इतना खिलाया-पिलाया है माँ कि अभी अगले दो जन्म तक इसी



तरह बगीचे की सेवा करूँगा ।

कुन्तल : तुम सच साधू-संत हो बाबा, पर बगीचे का काम बहुत ही कठिन है ।

माली : मेरा काम कठिन है ! नहीं माँ, मेरा काम सबसे सरल है । फुलवारी का काम मेरे लिए पूजा है, माँ !

कुन्तल : कितनी विशाल तुम्हारी दृष्टि है बाबा, सच पूजा का अर्थ है अपना कर्म !

माली : हाँ, माँ ! और वही कर्म भगवान की पूजा है । यही तो मेरे गुरु महाराज का शब्द है !

कुन्तल : गुरु ! तुम्हारे गुरु कौन हैं ?

माली : कबीर साहब ।

(कुन्तल मन्त्रमुग्ध होकर माली को देखती रह जाती है । पृष्ठभूमि में फिर उन तीनों मित्रों की हँसी उभरती है ।)

माली : माँ, आठ वर्ष का जब मैं था, तभी गुरुमुख हो गया । फिर माता-पिता का स्वर्गवास हुआ और मेरे मनुआ ने वनवास ले लिया । इधर-उधर घूमता रहा । एक बार ऐसा हुआ माँ कि कार्तिक के महीने में मैं गोंडा से लखनऊ जाने वाली सड़क थामे सरजू नदी नहाने जा रहा था । सुबह का समय था । उसी सड़क से इंजीनियर साहब घोड़े पर चढ़े चले जा रहे थे । घोड़ा चलते-चलते बिगड़ गया, सो मालिक को मैंने क्या, भगवान् ने बचा लिया । तब से मालिक ने मुझे छोड़ा नहीं । मुझे लखनऊ ले आये —खूब खिलाया-पिलाया और इसी फुलवारी में छोड़ दिया । मालिक ने पूछा—'अब भी साधू बनकर घूमोगे ?' मैंने कहा—'नहीं मालिक, मैं तो अब अपने कैलास लोक में आ गया !'

कुन्तल : (अभीभूत-सी) नदी को समुद्र मिलता ही है बाबा !

माली : मालिक ने खुद मुझे लिखना-पढ़ना सिखाया। मेरे लिए गुरुबानी संतपोथी ला-लाकर देते थे। सच, भगवान् से बड़े थे वे मेरे लिए।

(बाहर से जयदेव का प्रवेश। माली जाने लगता है।)

कुन्तल : रुको, माली बाबा ! बैठो जय ! मैं चाय लाती हूँ।

(भीतर जाती है।)

जयदेव : (कुर्सी पर बैठता हुआ) बगीचे में इस बार कौन-कौन से फल आये हैं ?

माली : राजा भैया, बगीचे में चलकर आपको खुद अपने फलों को देखना चाहिए। मालिक को देखकर फूल-पौधे और भी अधिक फूलते-फलते हैं।

जयदेव : मैं जो तुमसे पूछता हूँ, उसका जवाब दो।

माली : सब फल आये हैं, भैया—अमरूद, नीबू, संतरा, आंवला, केला, पपीता।

जयदेव : कितने की आमदनी हो जायेगी इस बार ?

माली : पांच-छः सौ से ज्यादा ही होगी।

(कुन्तल ट्रे में चाय लाती है और मेज पर रखती है।)

कुन्तल : (बैठती हुई) जय ! इस घर में एक इतिहास हुआ है।

जयदेव : वह क्या ?

कुन्तल : माली बाबा ने आज उपवास किया है।

जयदेव : क्यों ? तुमने अपना खाना नहीं बनाया ?

माली : भोजन कर लिया है भैया, माँ ऐसे ही कह रही हैं !

कुन्तल : ऐसे ही कह रही हूँ ? (रुककर) सुनो बाबा, तुम चौके में ही भोजन करोगे। इसमें इनका आर्डर नहीं चलेगा। लो, यह लो चाय और नाश्ता करो !



(एक प्लेट में नाश्ता और एक गिलास में चाय देती है। माली उसे लेकर अन्दर चला जाता है।)

जयदेव : मैंने तो सिद्धान्त की बात की थी।

कुन्तल : तुम्हारे सिद्धान्त अपने हैं—अपने जीवन से प्राप्त। पर इस घर का सिद्धान्त वही पुरातन है। माली बाबा हमारा नौकर नहीं है, इस परिवार का पूज्य सदस्य है। (चाय बनाकर जय को देती है) यह बगीचा, यह फुलवारी इस घर का मंदिर है और माली उसका पुजारी है।

जयदेव : और इस मंदिर का ईश्वर ?

कुन्तल : हमारे बाबूजी इस घर के इंजीनियर !

जयदेव : देखता हूँ तुम भी मध्ययुगीन ही हो। अरे, आधुनिक बनो आधुनिक, वरना यह माया-ममता हमें आगे नहीं बढ़ने देगी !

कुन्तल : (चाय पीकर) तो स्वार्थी होना ही आधुनिकता है क्या ?

जयदेव : हाँ, एक आवश्यक अंग जरूर है।

कुन्तल : तब तो यह बड़ा गलत अंग है तुम्हारी आधुनिकता का। तभी मैं देखती हूँ आज का सारा आधुनिक समाज केवल शरीर के स्तर पर जी रहा है। इसी का फल है आज समाज में इतना झूठ, इतना आडम्बर, अविश्वास और हृदयहीनता !

जयदेव : कुन्तल, यह भारतवर्ष आत्मा के स्तर पर बहुत जीकर देख चुका है—अब इसे कुछ दिन शरीर के स्तर पर भी जीने दो, बाबा !

कुन्तल : जिये न ! मेरे मना करने से थोड़े ही यह रुक जायेगा ! पर मेरा यह विश्वास है कि यह शरीर

जीवन का साध्य नहीं, महज साधन है। यदि यह भाव समाज में दृढ़ हो जाय तो फिर शरीर-सुख का जो इतना आडम्बर बांधा जाता है, उसके सुख-साधनों के लिए जो इतना अमंगल कर्म, छल-प्रपंच करना पड़ता है, वह सब दूर हो जाए और यह जीवन हमें और ही तरह से दीखने लगे।

जयदेव : अच्छा बाबा, पहले तुम चाय पी लो, फिर मुझे उपदेश देना। (चाय पीकर) कहो, तुम्हारी म्यूज़िक क्लासेज़ ठीक चल रही हैं न ? अब बहुत जल्दी से कार खरीद लूंगा।

कुन्तल : अरे, पहले तुम अपना प्रेस तो ठीक कर लो। प्रेस चलता रहे, फिर तो कार चलेगी ही।

जयदेव : प्रेस अब बिल्कुल ठीक चल रहा है। जब से उस बदमाश सिपाही लाल को प्रेस से निकाल दिया तब से प्रेस में शान्ति है।

कुन्तल : एक सिपाही लाल को निकाल देने से प्रेस की समस्या थोड़े ही खत्म हुई। मैं नहीं समझ पाती, तुम प्रेस के कर्मचारियों को उनका बोनस क्यों नहीं देते !

जयदेव : देखो, तुम प्रेस के मामलों में बेकार दखल मत दिया करो। तुम्हारी समझ ही क्या है !

(कुन्तल ट्रे को लिए हुए चुपचाप अन्दर जाने लगती है।)

जयदेव : (उठकर) सुनो कुन्तल, एक बात। आज मैं खाना नहीं खाऊँगा। सच, ज़रा भी भूख नहीं है।

कुन्तल : (आश्चर्य से) साढ़े छः बजे ही भूख का अंदाज़ कैसे हो गया ! सीधे क्यों नहीं कहते कि अपने दोस्तों के संग आज ओरियण्ट होटल में ही खाना खाऊँगा।

(चली जाती है।)



जयदेव : सुनो कुन्तल, ऐसी बात नहीं ! सुनो···

(कुन्तल के पीछे ही जयदेव भीतर चला जाता है। कुछ क्षणों बाद ही भीतर से अकेले कुन्तल आती है। कमरे की चीजें ठीक करती है। उसी बीच बाहर से सुन्दरम की आवाज आती है।)

आवाज़ : कुन्तल !

कुन्तल : ओह, सुन्दरम !

(सुन्दरम अनजाने में अपने संग आज निरंजन को ले आयी है। जयदेव का ही समवयस्क। बंद गले के कोट का सूट पहने हुए है। कुन्तल निरंजन को देखते ही काँप उठती है। सलज्ज माथा झुक जाता है दोनों का।)

सुन्दरम : (आश्चर्य से) कुन्तल ! तुम इन्हें पहचानती हो क्या ? ये मेरे भाई के सहपाठी हैं, निरंजन बाबू···यहाँ यूनिवर्सिटी में लेक्चरर हैं। कुन्तल···

(कुन्तल अपने को सम्हालती हुई कुर्सी पर चुपचाप जैसे गिर गई है। निरंजनसिंह मूर्तिवत खड़ा है।)

सुन्दरम : निरंजन बाबू !···आप मेरी कुन्तल को पहले से ही जानते थे क्या ?

निरंजन : तुम मुझे कहाँ ले आयीं ?

(कुन्तल तेज़ी से घर के भीतर चली जाती है।)

निरंजन : तुम्हें बताना चाहिए था कि तुम मुझे कहाँ ले चल रही हो !

सुन्दरम : (अप्रतिभ) पर ऐसी बात क्या है ? मैं तो तुम्हें ऐसे ही अपने संग लिये चली आयी ! (पुकारती है) कुन्तल···! कुन्तल···!

(भीतर से जयदेव आता है।)

जयदेव : सुन्दरम ! (निरंजन को देखकर) आपकी तारीफ़ ?

सुन्दरम : आप हैं निरंजन···यहीं लखनऊ यूनिवर्सिटी में लेक्चरर···!

जयदेव : ओह वही निरंजन बाबू···! बैठिये···तशरीफ रखिये न।

निरंजन : सुन्दरम, तुम बैठो···मुझे इजाज़त दीजिये— मैं इनके संग अनजाने में ही टहलता चला आया।

जयदेव : ओ हो—तो क्या हो गया! इतनी सारी कैफियत की क्या ज़रूरत! बैठिये तो—

(निरंजन को कंधे से पकड़कर कुर्सी पर बैठा देता है।)

जयदेव : सुन्दरम! तुम्हें पता नहीं!—यही वे निरंजन बाबू हैं, जिनसे पहले कुन्तल की···।

निरंजन : (काटते हुए) प्लीज़, इस परिचय की क्या ज़रूरत! (उठते हुए) सुन्दरम, तुमने अच्छा नहीं किया मुझे लाकर! तुम्हें बताना था कि तुम कहाँ आ रही हो!

सुन्दरम : ओ हो! तो क्या गजब हो गया ऐसा! आप लोग भी कभी-कभी औरतों की तरह व्यवहार करने लगते हैं! बैठिये न—आखिर कुन्तल मेरी सखी है कि···

(जयदेव हँस पड़ता है। निरंजन जाना चाहता है, तभी भीतर से हाथ में कॉफी की ट्रे लिए हुए कुन्तल आती है। निरंजन कुन्तल को देखते ही उसी जगह बंधा खड़ा रह जाता है।)

सुन्दरम : आइये, कॉफी पीजिए!

(सब बैठते हैं। अजीब-सी खामोशी खिंच गई है। लोग कॉफी पी रहे हैं। सुन्दरम उस घनी खामोशी को भंग करती है।)

सुन्दरम : जयदेव बाबू! कहिये, आपके दोस्तों के क्या हालचाल हैं? 'आत्मा अमर है'—इस तथ्य पर वे लोग विश्वास



करने लगे!

जयदेव : आत्मा के विश्वास का तो पता नहीं···हाँ तुम पर वे लोग ज़रूर विश्वास करने लगे!

सुन्दरम : फिर तो उन्हें ज़रूर मोक्ष प्राप्त होगा!

जयदेव : कहिये निरंजन बाबू, आप कैसे हैं?

(कुन्तल तत्काल भीतर चली जाती है।)

जयदेव : कुन्तल! कहाँ जा रही हो तुम? (उठकर) सुन्दरम मैं माफी चाहूँगा, मुझे जाना है!

सुन्दरम : जी हाँ, क्यों नहीं, आपके दोस्त लोग बड़ी देर से इंतज़ार कर रहे होंगे!

जयदेव : निरंजन बाबू, माफ कीजियेगा!···कुन्तल, मैं जा रहा हूँ···

(प्रस्थान)

सुन्दरम : आपने मुझे यह कभी नहीं बताया!

निरंजन : यह भी कहीं बताने की चीज़ है!

सुन्दरम : क्यों! शर्म लगती है क्या?···मैं तो सब कुछ बता देती हूँ!

निरंजन : आप बहादुर हैं! (रुककर) और आपसे मेरी मुलाकात भी तो अभी सिर्फ एक महीने की है!

सुन्दरम : और इस पुण्य का फल आपको मिल गया न!

(निरंजन का माथा झुक गया है। सुन्दरम हँसती हुई भीतर दौड़ती है। कुन्तल को कुछ ही क्षणों में अपनी दायीं बाँह में बाँधे हुए ले आती है।)

सुन्दरम : ऐसी भी क्या बात!···जब मुझसे भूल हो ही गयी, तो···

निरंजन : तो···तो क्या?

सुन्दरम : कुछ नहीं!···मैं फुलवारी देखने जा रही हूँ!

(पीछे फुलवारी में चली जाती है। कुन्तल कुर्सी थामे खड़ी है। निरंजन का माथा झुका है।)

कुन्तल : आप आनन्द से हैं न ?

निरंजन : जी !

कुन्तल : आपके पिताजी—एडवोकेट साहब कैसे हैं ?

निरंजन : पिताजी से अब मेरा कोई संबंध नहीं है। मैं उनसे अब अलग रहता हूँ।

(कुन्तल की दृष्टि शून्य में कहीं टिक जाती है। एक गहरी खामोशी।)

निरंजन : (उठकर) अजब भेंट हो गयी यह !

कुन्तल : अजब क्यों ?

निरंजन : क्या पता था !

कुन्तल : (सहसा) एक बात कहूँ, क्षमा कीजियेगा न !

निरंजन : कुछ आप कहिए भी तो भला !

कुन्तल : मेरे कुछ पत्र आपके पास हैं, मुझे वे वापस दे दीजिये !

निरंजन : उन पत्रों को वापस···वापस···अच्छा···ज़रूर।

(फुलवारी में से माली के संग सुन्दरम की हँसी।)

कुन्तल : कितनी प्यारी है यह सुन्दरम !

निरंजन : आपकी सहेली जो है।

(कुन्तल पीछे मुड़कर सुन्दरम को पुकारती है। सुन्दरम आती है।)

सुन्दरम : इस भेंट के लिए मुझे इनाम मिलना चाहिए !

कुन्तल : क्यों नहीं, ज़रूर मिलेगा इनाम !

सुन्दरम : सच !

कुन्तल : बिल्कुल !

सुन्दरम : तो इनाम में मैं तुम्हें ही लूंगी।



कुन्तल : ठीक। अपने को ही दे दूँगी !

(उन्मुक्त हँसी)

सुन्दरम : सुनो···मैं एक ज़रूरी काम के लिए आयी थी तुम्हारे पास !···पहले 'हाँ' कर दो तो बताऊँ बात !

कुन्तल : इस ढंग की जबरदस्ती !

सुन्दरम : कल एक बहुत अच्छी जगह पिकनिक करने का प्रोग्राम बन रहा है। तुम्हें उसमें चलना है।

कुन्तल : ठीक···(सहसा) संग कौन-कौन लोग जा रहे हैं ?

सुन्दरम : बस हमीं लोग हैं ? आठ-दस···

कुन्तल : पर कौन-कौन ?

सुन्दरम : मैं, तुम, निरंजन, जयदेव···

कुन्तल : (बीच ही में) सुनो···सुनो···मैं नहीं जा सकूँगी। जयदेव को बेशक ले जाओ तुम !

सुन्दरम : अच्छा, आप क्यों नहीं जायेंगी !

कुन्तल : बस, नहीं जा पाऊँगी···

निरंजन : चलिये न !

(कुन्तल अवाक् रह जाती है। फिर वही खामोशी।)

निरंजन : अच्छा, नमस्ते। चलूँगा अब !

सुन्दरम : रुकिये तो···

निरंजन : नहीं, अब चलना है।

(निरंजन चला जाता है। सुन्दरम कहती हुई जाती है—'कल सुबह तैयार रहना, पिकनिक पर चलना है तुम्हें !' कुन्तल खोयी-सी वहीं खड़ी रह जाती है। फुलवारी में से माली आता है।)

माली : माँ ! सच, वही निरंजन बाबू यहाँ आये थे ?

(कुन्तल माली को देखकर माथा झुका लेती है।

माली : माँ ! आओ, फुलवारी में चलो, मन हल्का हो

जायेगा !

कुन्तल : बाबा···!

माली : हाँ माँ, बोलो···आज्ञा दो !

कुन्तल : कुछ नहीं !

(तेज़ी से भीतर जाने लगती है तभी बाहर कुछ व्यक्तियों की तेज बोलचाल सुनायी पड़ती है। कुन्तल लौटती है। तब तक जयदेव भागा हुआ आता है—जिसका पीछा किये हुए हैं प्रेस के कुछ मजदूर।)

जयदेव : बदतमीज़ कहीं के ! तुम लोगों की यह हिम्मत !

कुन्तल : क्या बात है ?···बात क्या है ? बोलो न !

जयदेव : मैं अपने रास्ते जा रहा था···इन सबों ने मुझे रोक लिया !

पहला व्यक्ति : मालकिन, प्रेस में हड़ताल चल रही है। हमारे दो आदमी पिछले तीन दिनों से भूख हड़ताल में पड़े हैं··और इन्हें इन सब बातों से कोई सरोकार नहीं !

दूसरा व्यक्ति : ऐसे मालिक को कोई क्या कहे !

तीसरा व्यक्ति : हम भूखे मरें··और ये प्रेस में ताला डालकर खुद होटल-हवेली में रंगरेलियाँ करें।

चौथा व्यक्ति : हमसे पूछा तक नहीं कि हमारी मुसीबतें क्या हैं···हमारी माँगों की तो बात ही दरकिनार है।

जयदेव : तुम लोग यहाँ से जाते हो कि नहीं !

कुन्तल : क्यों चीखते हो इस तरह ! ये सब तुम्हारे प्रेस के कर्मचारी हैं···ये तुम्हारे पास न आएँगे तो कहाँ जाएँगे ?

जयदेव : तो तुम्हीं बात करो इन बदतमीजों से !

पहला व्यक्ति : मालकिन, इन्हें मना कीजिए···ये ज़बान सम्हालकर बातें किया करें···नहीं तो···!



दूसरा व्यक्ति : हर बात में इनके मुँह से गाली निकलती है !

तीसरा और चौथा : (एक संग) अब हम कतई बर्दाश्त नहीं करेंगे !

(जयदेव धीरे से भीतर जाने लगता है।)

सारे व्यक्ति : नहीं-नहीं···आप भीतर नहीं जा सकते ! हम आपसे बात करने आये हैं।

जयदेव : पहले अपनी स्ट्राइक खत्म करो···तभी मैं तुम लोगों से बात करूँगा !

कुन्तल : बोलो···मुझसे बात करो ! मैं तुम लोगों से बात करने को तैयार हूँ।

जयदेव : क्या, तुम इनसे बात करोगी ! तुम्हें कुछ पता भी है ?

माली : भैया !·· यह व्यवहार ठीक नहीं है आपका !

जयदेव : ओह ! तुम भी यहीं सिर पर खड़े हो ! (तेज़ी से भीतर प्रस्थान)

कुन्तल : माली बाबा ! जाओ, बाग से इन सबके लिए फल ले आओ ?

(माली पीछे फुलवारी में चला जाता है।)

कुन्तल : बोलो···क्या बात तुम लोग जयदेव से कहना चाहते हो।

पहला व्यक्ति : हमारी इतनी मुसीबतें हैं कि हम बयान नहीं कर सकते। (कागज़ देते हुए) यह लीजिए—हमने अपनी बातें लिख डाली हैं।

(कुन्तल उस कागज़ को पढ़ने लगती है।)

दूसरा व्यक्ति : जब से यह प्रेस चालू हुआ है, मैं तभी से इसमें हूँ पर ऐसी मुसीबतें हम पर कभी नहीं आयीं।

तीसरा व्यक्ति : हद हो गई—वक्त पर हमें तनखाह तक न मिले !

चौथा व्यक्ति : महँगाई और बोनस की कौन बात करे !

पहला व्यक्ति : हमारे मालिक हैं कि हमीं से झूठ बोलते हैं··· हमीं से आँखें चुराते हैं।

(कुन्तल कागज़ पढ़ रही है। भीतर से माली फल ले आता है, उन कर्मचारियों को देने लगता है।)

पहला व्यक्ति : शुक्रिया! पर फल हम क्या करेंगे! इसमें मज़दूर का पेट नहीं भर सकता।

कुन्तल : ले लो—इस फल में तुम्हारा भी हिस्सा है!···यह घूस नहीं, अधिकार है तुम्हारा!

(वे सब फल ले लेते हैं।)

कुन्तल : तुम्हारी बातें ठीक हैं। माँगें ज़रूर पूरी होनी चाहिये!

पहला व्यक्ति : फिर मालिक को बुलाइये न!

माली : मालकिन क्या कम हैं तुम्हारे लिए।

दूसरा व्यक्ति : सो तो ठीक है ··पर हमें पता है, जयदेव साहब किसी की बात नहीं मानते।

कुन्तल : जयदेव का यह कहना है कि पहले हड़ताल खत्म हो···मान जाओ इतनी-सी बात···फिर आगे मैं देखूँगी!

सारे व्यक्ति : यह नहीं हो सकता!

पहला व्यक्ति : पिछले दो सालों से हम मजबूर होते गये···

दूसरा व्यक्ति : इसके अलावा अब हमारे पास कोई चारा नहीं!

तीसरा व्यक्ति : आप मेहरबानी करके मालिक को समझा दीजिए···

(सारे व्यक्ति चले जाते हैं। कुन्तल माली को देखती है।)

माली : माँ, यह सब माज़रा मेरी समझ में नहीं आता। प्रेस से इतनी-इतनी आमदनी होती थी। इतना सारा धन



मेरे मालिक छोड़ गये थे···

(भीतर से जयदेव का प्रवेश)

जयदेव : माली, तुम अन्दर जाओ!

माली : यही एक तरीका रह गया है आपके पास·· यथारथ से भागने का, यही चरित्र है आपका?

जयदेव : माली!

(माली दुखभरी निगाह से जयदेव को देखकर चला जाता है।)

जयदेव : तुम नहीं जानतीं प्रेस के इन बदमाशों को!

कुन्तल : कैसी बोली है तुम्हारी!···(रुककर) प्रेस के लोगों से तुम बात क्यों नहीं करते? तुम खुद प्रेस जाते क्यों नहीं?

जयदेव : तुम चाहती क्या हो?

कुन्तल : मेरे चाहने की बात खत्म हुई। मैं अब सिर्फ तुम्हारा हित सोचती हूँ।

जयदेव : गलत है यह! तुम्हारी सहानुभूति जितनी उन प्रेस वर्कारों और उस ··

(सहसा उसी क्षण बाहर से निरंजन की आवाज़ आती है।)

आवाज़ : मैं अन्दर आ सकता हूँ?

जयदेव : कौन साहब हैं!

आवाज़ : मैं हूँ निरंजन!

जयदेव : ओह! आइए···आइए···!

(निरंजन का प्रवेश। कुन्तल बढ़कर स्टैण्ड-लैम्प जला देती है।)

जयदेव : बैठिए···प्लीज़ बैठिए!

निरंजन : (कुन्तल से) सबसे पहले आपकी आज्ञा का पालन! ये लीजिए वे सारे पत्र···

(कुन्तल मूर्तिवत निरंजन को देखती रह जाती है। निरंजन बढ़कर कुन्तल के हाथ में खतों के उस लिफाफे को पकड़ा देता है। कुन्तल चुपचाप भीतर चली जाती है।)

जयदेव : अरे···रे···रे···तुम जा कहाँ रही हो ! ···बैठो न।

(कुन्तल का प्रस्थान)

निरंजन : अब मुझे आज्ञा दीजिए ! मैं चलूँगा···

जयदेव : ऐसा कैसे हो सकता है ! (पुकारता है।) कुन्तल, माली ! ···कुन्तल ! देखो निरंजन बाबू भागना चाहते हैं !

(कुन्तल जैसे दौड़ी हुई आती है।)

कुन्तल : रोकिए इन्हें !

जयदेव : जी, बैठिए !

निरंजन : (कुन्तल से) पहले आप बैठिए !

(कुन्तल मूढ़े पर बैठती है। जयदेव और निरंजन कुर्सियों पर बैठते हैं।)

जयदेव : बड़ा खराब ज़माना आ गया !

निरंजन : मुझे तो ऐसा नहीं लगता।

(खामोशी। तभी भीतर से ट्रे में कॉफी लिए हुए माली आता है, मेज पर रखकर चला जाता है।)

जयदेव : यह विवाह भी एक अजीब चीज़ है।

निरंजन : मैं क्या बताऊँ ! मैं इसका रंच-मात्र भी अधिकारी नहीं हूँ।

कुन्तल : विवाह स्त्री और पुरुष के आत्मदर्शन के लिए था।

जयदेव : था ! ···अब नहीं है क्या ?

कुन्तल : अब बीच में पदार्थ आ गया है।

जयदेव : ऊँची बातें हैं ये ! ···अच्छा निरंजन बाबू, आप तब तक कॉफी पिएँ मैं ज़रा तैयार हो लूँ। मुझे जाना है एक जगह !



कुन्तल : कॉफी पीकर जाओ न।

जयदेव : निरंजन बाबू, माफ कीजिएगा, मैंने अभी-अभी चाय पी है (जाता हुआ) अभी आया।

(जयदेव का प्रस्थान)

निरंजन : (कॉफी पीते हुए) आप भी नहीं पीयेंगी !

(कुन्तल बिना कुछ उत्तर दिये स्वयं के लिए कॉफी बनाती है, और चुपचाप पीने लगती है।)

निरंजन : एक बात पूछ सकता हूँ ! (रुककर) उन खतों को आप क्या करेंगी ! वे खत इतने दिनों तक मेरे पास थे, तभी यह पूछने का मोह हो रहा है।

कुन्तल : जय को पढ़ने को दूँगी !

निरंजन : क्यों ?

कुन्तल : सिर्फ पति के पढ़ने लायक वे खत हैं !

निरंजन : सिर्फ पति के पढ़ने लायक ! तो वे खत क्या आपने मुझे नहीं लिखे थे ! मुझे यानी निरंजन नामक व्यक्ति को !

(कुन्तल चुप है)

निरंजन : बोलिए ! बताइए न !

(कुन्तल उठकर पीछे जाती है। फुलवारी की ओर देखने लगती है।)

निरंजन : (उठकर उसी ओर मुड़कर) बताइए न, वे खत आपने मुझे नहीं लिखे थे !

कुन्तल : नहीं !

निरंजन : फिर किसे लिखे थे आपने !

कुन्तल : बता दूँ ! वे खत···(रुक जाती है।) वे खत पत्नी होने वाली एक कुँआरी लड़की की ओर से पति होने वाले एक पुरुष को लिखे गये थे !

निरंजन : वह पुरुष कोई भी हो सकता था !

कुन्तल : हाँ, वह पुरुष कोई भी हो सकता था—कोई भी, जिससे लड़की के माँ-बाप शादी तय कर दें।

निरंजन : तो वे खत आपने पति को लिखे थे, मुझे नहीं ! तो इसके माने यह हुए कि पति एक संस्था है—इन्स्टीट्यूशन—व्यक्ति नहीं !

(कुन्तल चुप है।)

निरंजन : 'इट मीन्स ए वू मन लव्ज़ ए हसबैण्ड एज़ एन इन्स्टीट्यूशन, नॉट एज़ ए मैन, ऑर एज़ एन इंडिवीजुअल !'[1]

(कुन्तल चुप है।)

निरंजन : यह तो अजीब बात है।

कुन्तल : पर पति की ओर से, पत्नी के प्रति भी यही सत्य है।

निरंजन : तब यह विवाह स्त्री-पुरुष के लिए आत्मदर्शन कैसे है !

कुन्तल : तभी तो आत्मदर्शन है। क्योंकि सब कुछ तभी विवाह के बाद प्रकट होता है।

निरंजन : यह तो बड़ा निर्मम है।

कुन्तल : पर यह सत्य है।

निरंजन : नहीं, यह असत्य भी है !

कुन्तल : पता नहीं।

निरंजन : इसकी परीक्षा होनी चाहिए।

कुन्तल : कौन ले परीक्षा !

निरंजन : तुम···तुम्हीं इसकी परीक्षा लो !

१. 'इसका मतलब यह है कि स्त्री अपने पति से एक संस्था के रूप में प्रेम करती है। न कि एक पुरुष या व्यक्ति के रूप में ?'



(कुन्तल की दृष्टि उसके आरक्त मुख पर टिक जाती है।)

निरंजन : क्योंकि तुम अब तटस्थ हो। (रुककर) एक परीक्षा में मैं बेहतर हार गया। तुम्हारा मैंने अपमान किया पर अब मैं मुक्त हूँ। तुम्हें मैं अपनी एक परीक्षा और देना चाहता हूँ, वरना मैं अपने आप को कभी क्षमा नहीं कर पाऊँगा।

कुन्तल : यह सब क्या कह रहे हैं आप ?

निरंजन : अपने-आप को कह रहा हूँ - यह विवाह महज एक कर्मकांड, एक 'स्कूल' और परम्परा का पालन नहीं है, यह आत्मानुभूति है।

कुन्तल : आप तो विद्वान हैं निरंजन बाबू, समूचे भारतीय समाज के कई हजार वर्षों के इतिहास में क्या किसी स्त्री-पुरुष का विवाह इस पति-परम्परा से हटकर हुआ है ! नहीं···नहीं···नहीं ! स्त्री-पुरुष दोनों की आत्माएँ यहाँ बन्दी हैं। सिर्फ स्वतंत्र है संयोग, भाग्य—'ए ब्लाइण्ड कल्ट !'[1] (रुककर) विवाह शकुन्तला का हुआ था, जिससे भरत जैसा पुत्र मिला। विवाह शंकर-पार्वती का हुआ जिससे स्वामी कार्तिकेय पैदा हुए।

निरंजन : और ये गौतम बुद्ध, स्वामी रामतीर्थ, महात्मा गांधी और टैगोर ?

कुन्तल : इन्हें·····इन्हें इतिहास ने जन्म दिया, विवाह ने नहीं। विवाह ने तो इन्हें नीचे खींचना चाहा था।

(भीतर से तभी जयदेव का प्रवेश—नये सूट में, जैसे कहीं जाने को तैयार।)

जयदेव : अरे भाई, बैठकर बातें करो न ! ऐसी भी क्या बात ?

१. एक अन्धविश्वास

निरंजन : बैठकर केवल मौसम की बात हो सकती है !

जयदेव : (हँस पड़ता है) सही कहते हैं आप ! हमारा बगीचा देखा, गार्डन एण्ड आर्चेड ! कुन्तल ! निरंजन बाबू को अपनी फुलवारी में घुमा लाओ न !

कुन्तल : इस समय ?

जयदेव : क्यों ? आज पूर्णमासी की रात तो है !

कुन्तल : पर इस समय फूल-पौधे सो चुके हैं। उनके शान्त जीवन में विघ्न नहीं बनना चाहती।

जयदेव : अच्छा बाबा, मैं ही विघ्न बनूँगा ! आइये निरंजन बाबू, आपको मैं अपनी फुलवारी दिखाऊँ।

निरंजन : फिर कभी दिन में आकर देखूँगा।

जयदेव : नहीं-नहीं, आइये न ! माली ! माली ! (भीतर मुड़कर माली को पुकारने लगता है, और क्षण-भर में ही वह फुलवारी में दिखाई देने लगता है।)

निरंजन : आपकी फुलवारी में लाल कनेर तो होगा ?

कुन्तल : जी हाँ, एक है।

निरंजन : और रातरानी ?

कुन्तल : वह भी है—पर दोनों बहुत दूर-दूर हैं।

निरंजन : कितनी भी दूर क्यों नहीं हों, वह तो माली की योजना की बात हुई। पर मैं आपसे इन दोनों पुष्पों की सौगंध देकर कह रहा हूँ कि एक बार मेरी परीक्षा आप जरूर लें··· (सहसा) अच्छा, नमस्ते !

(तेजी से बाहर प्रस्थान। कुन्तल चौखट के पास खड़ी फुलवारी की ओर देख रही है। कुछ ही क्षणों बाद जयदेव हाथ में एक पुष्प लिए आता है, जिसे वह अपने कोट में लगाने का प्रयत्न कर रहा है।)

कुन्तल : लाओ, मैं लगा दूँ ! (कोट के कॉलर में पुष्प लगाने लगती है।)



जयदेव : अरे, तुम अकेली खड़ी हो ! ···निरंजन बाबू···?

कुन्तल : चले गए !

जयदेव : चले गए ! तुमने कुछ कह तो नहीं दिया ? वे इतनी जल्दी क्यों चले गए ? मैं तो राह देख रहा था कि वे फुलवारी में आ रहे हैं। पर वे इस तरह चले गये !

(कुन्तल हँस पड़ती है।)

कुन्तल : जय ! तुम में भला इतना डर क्यों समाया रहता है ? हर चीज़ को अमंगल रूप में सोच बैठते हो !

जयदेव : तुम्हें क्या ! मेरी जिम्मेदारियाँ मुझे डराती हैं।

कुन्तल : ओ हो !

जयदेव : (बाहर दरवाज़े की ओर बढ़ता हुआ) मैं रात को ज़रा देर से आऊँगा ! माली से बोल दिया है। वह यहाँ दरवाज़े पर सोता रहेगा। (जाने लगता है।)

कुन्तल : लेकिन अभी तो साढ़े आठ नहीं बजे हैं !

जयदेव : तो !

कुन्तल : मेरे द्वारा उनको लिखी गई जो चिट्ठियाँ निरंजन मुझे दे गये हैं, कृपा कर पहले उन्हें पढ़ लीजिए।

(तेजी से अन्दर जाती है और चिट्ठियों का लिफाफा लेकर आती है।)

कुन्तल : लीजिए ! पहले पढ़ लीजिए !

(जयदेव चिट्ठियों का लिफाफा कोट में रखकर जाने लगता है। कुन्तल जाने से रोक लेती है।)

कुन्तल : चिट्ठियाँ लेकर आप होटल नहीं जायेंगे।

जयदेव : क्यों, होटल बुरी जगह है क्या ?

कुन्तल : पता नहीं ! पर आप इन्हें पढ़कर जाइये।

जयदेव : जिद मत करो, कुन्तल ! मैं इन्हें इतमीनान से पढ़ूंगा और अब इन्हें पढ़ना भी क्या है ? चिट्ठियाँ वापस मिल गयीं—बात खत्म हुई ? (देता हुआ) लो इन्हें !

कुन्तल : (लेती हुई) याद है न ? मैंने कहा था, बिना ये चिट्ठियाँ पढ़ाए मैं दम नहीं लूंगी । ईश्वर ने मेरी इज्जत रख ली ।

(जयदेव बेंत की कुर्सी पर बैठ जाता है । कुन्तल लिफाफे में से पाँच-छः चिट्ठियाँ निकालकर मेज पर रख देती है ।)

कुन्तल : लो पढ़ो अब !

जयदेव : तुम्हीं पढ़ो !

कुन्तल : पर पढ़ना तो तुम्हें है न !

जयदेव : एक ही बात है । (देता हुआ) लो, पढ़ो !

(कुन्तल खड़ी रहकर पत्र पढ़ती है ।)

कुन्तल : पहला पत्र ! सात, अमीनाबाद पार्क रोड, लखनऊ, तारीख : बीस जुलाई, उन्नीस सौ तिरेपन···प्रिय रंजन, प्रणाम, ईश्वर की कृपा से हम लोग विवाह के मंगल-सूत्र में बंधने जा रहे हैं । मैं आपका प्रेम और आशीष दोनों एक साथ चाहती हूँ । मैं सौभाग्य से एक ऐसे विद्वान, सहृदय पिता की अकेली कन्या हूँ, जिसके जीवन में केवल आदर्श ही आदर्श रहा । आपको पता है मेरे पिता जी की विद्वत्ता के बारे में —संस्कृत, अंग्रेज़ी, बंगला और हिन्दी साहित्य के रसज्ञ, पर उससे कहीं अधिक गहरा उनका हृदय है । न जाने क्यों आपको यह पत्र लिखना मुझे बहुत अच्छा लग रहा है । पर मैं पत्र क्या लिखूं और कैसे लिखूं, समझ में नहीं आता । अच्छा फिर···आपकी कुन्तल । (वह पत्र रखकर दूसरा उठा लेती है ।)



जयदेव : जल्दी करो कुन्तल, मुझे देर हो रही है ।

कुन्तल : दूसरा पत्र । दिनांक, पाँच अगस्त । प्रिय रंजन, प्रणाम ! आपको यह पढ़कर आश्चर्य होगा कि मैं लखनऊ में पैदा होकर, यहीं पढ़-लिख इतनी बड़ी होकर भी जैसे लखनऊ की लड़की नहीं हूँ । मैं अपने अन्तःकरण की बात कहूँ तो दैहिक प्यास के अतिरिक्त एक अजब प्यास मुझ में और है । उस प्यास की तृप्ति मुझे विशेषकर संस्कृत साहित्य, हिन्दी, बंगला और अंग्रेज़ी साहित्य तथा संगीत से होती रही है । संगीत तो जैसे मुझे हरदम बाँधे ही रहता है । क्या मजाल कि मैं उसे एक क्षण के लिए भी भुला सकूँ ! लगता है, यह संगीत मेरे अन्तःस्तलवासी की पुकार है । मैं उसे देख नहीं पाती, इन कानों से सुन नहीं पाती, पर मेरे भीतर एक के बाद दूसरा सुर, एक के बाद दूसरा राग···

जयदेव : बस···बस···हो गया···! समझो, मैंने सब सुन लिया !

कुन्तल : अच्छा, यह तीसरा खत ! मेरे परम पूज्य, नमस्ते ! मेरे पिताजी मुझसे अक्सर कहा करते हैं कि किसी को भी पाने के लिए त्याग की आवश्यकता है । यह त्याग अपने को खाली कर डालने के लिए नहीं, वरन् अपने को पूर्ण करने के लिए है । वे कहते हैं, 'त्याग का अर्थ प्रेम है ।'

जयदेव : (सहसा उठ खड़ा होता है ।) बस···बस बाबा, बस ! मैं क्षमा चाहता हूँ । बड़ी कृपा की तुमने मुझ पर कि ऐसे पत्र तुमने मुझे नहीं लिखे ! हद हो गयी । एक जवान खूबसूरत लड़की किसी जवान खूबसूरत

लड़के को ऐसे पत्र लिखे। (हँसने लगता है।) साहित्य, कला, धर्म, दर्शन···इन सबसे वायु का रोग हो जाता है। संसार और मन का मेल कभी होता ही नहीं।

कुन्तल : फिर क्या सोचा था। मैंने आजकल की लड़कियों जैसे प्यार-भरे फिल्मी गीतों से लबालब खत लिखे होंगे ? मैं उन लड़कियों में नहीं, जो मजनुओं की लैला बनने का स्वप्न देखती हैं; मैं हिन्दू स्त्री हूँ—पति में श्रद्धा रखने वाली, उस पर भरोसा और विश्वास रखने वाली !

जयदेव : श्रद्धा, भरोसा और विश्वास ! पर प्यार नहीं, क्यों ? हिन्दू स्त्री में यह प्यार 'नान-वेजीटेरियन' है क्या ? बताओ न, नाखुश मत हो ! भई, मैं तो बहुत ही साधारण आदमी हूँ।

कुन्तल : पर तुम तो मुझे प्यार करते हो न ?

जयदेव : वही तो मेरे पास है सिर्फ ! मेरे पास न कला, न साहित्य, न धर्म, न दर्शन ! एम० कॉम० पास आदमी ! 'लॉ' में दो साल फेल हुआ। पर विश्वास मानो कुन्तल, मेरी जिन्दगी में कला, साहित्य, धर्म की जो कमी थी, तुम्हें पाकर वह सब पूरी हो गयी और···

कुन्तल : सुनो, सुनो ! हिन्दू स्त्री प्यार नहीं, प्रेम करती है।

जयदेव : अब संभालो ! प्यार और प्रेम में भी अन्तर। तुम भी खूब हो कुन्तल !

कुन्तल : (हँसती है) प्रेम में मुक्ति है और प्यार में बन्धन। कहीं पढ़ा था, इस देह के प्याले में जब प्रकृति अपनी रंगीन शराब उंडेल देती है तो उसे हम प्यार कहने लगते हैं, लेकिन प्रेम··· (बढ़कर जयदेव के कोट के कॉलर पर लगे हुए पुष्प को ठीक करने लगती है।) मुझे भी अपने होटल में क्यों नहीं ले चलते ? मुझे भी वहीं ताश खेलना क्यों नहीं सिखा देते ?

जयदेव : हमारी तरह ताश में केवल दो ही पत्ते नहीं होते, बीवी और बादशाह ! अरे, उसमें बावन पत्ते होते हैं, जिनमें सैकड़ों खेल और असंख्य चालें होती हैं ! तुम तो मेरी पत्नी हो—इस घर की लक्ष्मी !

कुन्तल : अरे-रे-रे ! भूल गए ? यूनिवर्सिटी के संगीत-विभाग में अध्यापिका भी हूँ। (हँसती है।) एक कुन्तल घर की, एक बाहर की ! अब खुश हो न !

जयदेव : 'येस ! वाई आल मीन्स !'[1] अच्छा प्लीज़, अब मुझे बहुत देर हो रही है !

(जयदेव जाने लगता है। कुन्तल उसे पकड़ लेती है।)

कुन्तल : तुम जा रहे हो तो इस बाहर की कुन्तल का क्या होगा ? यह भी तुम्हारे साथ होटल जाना चाह रही है—मानती ही नहीं, मैं क्या करूँ !

जयदेव : अपनी बाहर की कुन्तल से कहो—अभी वह घर की कुन्तल की अपेक्षा बहुत बच्ची है।

(जयदेव छुड़ाकर हँसता हुआ चला जाता है। कुन्तल अकेली छूट जाती है। बगीचे में से उसी क्षण माली बाबा का भजन सुनाई देता है।)

---

१. हाँ, बिलकुल

मोरे लगि गये बान सुरंगी हो।
घन सतगुरु उपदेश दियो है, होइ गयो चित्त भिरंगी हो।
ध्यान पुरुष की बनी है तिरिया, घायल पाँचों संगी हो।
घायल की गति घायल जाने की जाने जात पतंगी हो।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, निसि दिन प्रेम उमंगी हो।

(कुन्तल चुपचाप चौखट के पास खड़ी फुलवारी की ओर निहार रही है। संगीत से सारा वातावरण भर गया है।)

[ पर्दा गिरता है। ]

## दूसरा दृश्य

(दिसम्बर का अन्तिम सप्ताह। पर्दा फिर उसी स्थान पर उठता है। सुबह के साढ़े आठ बज रहे हैं। शीशे की चौखट से परे बस अब धूप धीरे-धीरे आ रही है।

पृष्ठभूमि में अकेली बांसुरी का मध्यम संगीत उभरा रहता है। भीतर से कुन्तल निकलती है; पीली साड़ी में, प्रसन्नमुख, लगता है कोई गीत गुनगुना रही है। हाथ में 'एक्रोक्लीनम' के फूल के गुच्छे लिए है। फूलदान से पुराने पुष्प निकालकर इन्हें लगाती है। फर्नीचर आदि ठीक करती है। सहसा भीतर बांसुरी का संगीत टूट जाता है।)

कुन्तल : माली बाबा! यह टेप-रिकार्डर कैसे बन्द हो गया? देखो तो!

(भीतर से गाउन पहने जयदेव का प्रवेश। हाथ में कुन्तल की शाल लिये हुए है।)



जयदेव : मैंने बन्द किया है टेप-रिकार्डर! (कुन्तल के दोनों कंधों पर शाल डाल देता है।) ठंड लग जाएगी तुम्हें। कितना मना किया कि इतना काम न किया करो पर तुम मानती ही नहीं। घर में वह नौकरानी है, माली है वह।

कुन्तल : जो जिसका काम है, वह ज़रूर करेगा!

जयदेव : पर यह काम नौकर का है, तुम्हारा नहीं!

कुन्तल : नहीं-नहीं (हँस पड़ती है।) यह मेरा काम है, तभी तो मैं करती हूँ, क्योंकि मुझे इसमें आनन्द मिलता है।

जयदेव : तुम्हीं जानो अपने आनन्द का दर्शन!

कुन्तल : (हँसती हुई) देखो न! कोई इन पुष्पों से कहे कि तुम मत फूलो···पर ये कैसे मानेंगे? (चौखट के पास जाकर लता ठीक करती है। गमलों को ठीक करती है।)

जयदेव : तुम जितनी चिन्ता इन फूल-पौधों की करती हो, उतनी तुम अपनी और मेरी चिन्ता नहीं करतीं। घर बाहर का इतना काम करोगी तो बीमार नहीं पड़ जाओगी?

कुन्तल : मैं सोच रही हूँ, तुम आज इतनी जल्दी कैसे उठ गये? रात को उस नये कास्मोपॉलिट क्लब से तुम डेढ़ बजे लौटे थे और ढाई बजे सोये थे। (सहसा) ओह! अब समझी, बाँसुरी के संगीत ने तुम्हारी नींद चौपट की! (हँसती है।) कहाँ ताश के बादशाह-बेगम, कहाँ यह मूर्ख बाँसुरी!

जयदेव : अच्छा, तो मुझसे इस तरह से बातें करोगी?

(जयदेव बढ़कर कुन्तल को पकड़ना चाहता है, कुन्तल हँसती हुई इधर-उधर भागती है अन्त में जयदेव उसका

दायां हाथ पकड़ लेता है।)

जयदेव : अब तो इस तरह से बातें नहीं करोगी ?

कुन्तल : और अगर मैं करूँ तो ?

जयदेव : कहो न !

कुन्तल : अब तो इस तरह से ताश न खेलोगे ?

जयदेव : भई, मैं नहीं समझ पाता कि आखिर इस ताश के खेल में क्या बुराई है। यह जुआ थोड़े ही है। (रुककर) रही डेढ़-दो बजे रात को सोने की बात, तो माडर्न लखनऊ में रात शुरू होती है बारह बजे से, इसके पहले शाम रहती है—शामे-अवध इसी को कहते हैं।

कुन्तल : और बारह बजे जो रात शुरू होती है, उसे मीना-बाज़ार कहते हैं न! ओहो, तभी तुम मुझे होटल में नहीं ले जाते! सोचते होंगे ताश खेलने में बाधा पड़ेगी, पर मुझे लगता है, यह ताश का खेल आगे चलकर कभी संकट बन सकता है (कुर्सी पर बैठती हुई) जो भी हो, इस तरह ताश की हार-जीत और बादशाह-बेगम के चक्कर में न जाने कब किस समय दो खिलाड़ियों के दिल टकरा जाएं।

जयदेव : खिलाड़ियों के दिल नहीं होते, जो टकरा जाएं, जिगर होता है, जिगर उनके! 'जिगर' शायर का नाम सुना है कभी ? या कालिदास, टैगोर का ही नाम सुना है ? सुनो 'जिगर' का कलाम···सुनो (गला ठीक करके)—'यूँ ज़िन्दगी गुज़ार रहा हूँ तेरे बग़ैर, जैसे कोई गुनाह किए जा रहा हूँ मैं।'

कुन्तल : वाह, वाह, वाह!

(जयदेव कुन्तल की कुर्सी के पीछे बढ़कर उसके जूड़े को ठीक करने लगता है।)

जयदेव : न जूड़ा बाँधा, न ठीक से नाश्ता किया, सुबह से मेरी रातरानी काम पर लग गयीं। रुको, बैठी रहो इसी तरह।

(जयदेव बढ़कर 'फ्लावर-वास्क' से एक पुष्प लेकर कुन्तल के जूड़े में लगाने लगता है। उसी समय बाहर से सुन्दरम का प्रवेश। देखते ही दोनों हाथों से वह अपनी आँखें बन्द कर लेती है। कुन्तल उसे देखते ही दौड़कर चुपके से उसके सिर पर हल्के-से चपत लगा देती है और हट जाती है। जयदेव जैसे ही चपत लगाने लगता है, सुन्दरम आँख खोल देती है। तीनों की मुक्त हँसी।)

जयदेव : आज आपका दफ्तर नहीं है क्या ?

सुन्दरम : दफ्तर ? कैसा दफ्तर ?

कुन्तल : साफ-साफ बता दो न !

जयदेव : ओहो ! अब समझा। निरंजन बाबू आ रहे होंगे आज।

कुन्तल : साथ क्यों नहीं ले आयीं ?

सुन्दरम : वाह, वाह ! उन्हें फुलवारी दिखाने का निमंत्रण आपका है, फिर मुझ बेचारी को इस तरह क्यों खींच रही हैं ? (जैसे कि शरमा रही हो।)

कुन्तल : (प्यार से सुन्दरम के दोनों हाथ पकड़कर) मेरे मन-प्राण की फुलवारी तो तुम हो !

जयदेव : (जो पीछे खड़ा है) अच्छा है जो मैं 'बैक-ग्राउण्ड' में ही हूँ।

सुन्दरम : (जयदेव की बाँह पकड़कर) अजी, आप 'फोर ग्राउण्ड' में आइए !

जयदेव : (अभिनय करता हुआ) मुझे तो कोई फुलवारी नहीं

दिखाता !

सुन्दरम : (उससे तेज अभिनय करती हुई) हाय···हाय···हाय !

कुन्तल : (हँस पड़ती है) सच, तू बड़ी पगली है, सुन्दरम !

सुन्दरम : आइये जनाबे-आली, मैं आपको आपकी फुलवारी दिखाऊँ, आप भी क्या कहेंगे !

(जयदेव का हाथ पकड़े सुन्दरम उसे भीतर ले जाती है और क्षण-भर में दोनों बगीचे में पहुँच जाते हैं।)

कुन्तल : (चौखट के पास जाती हुई) जय को सब पुष्पों के नाम बता देना, सुन्दरम ! सब पेड़ों से परिचित करा देना !

(उसी समय बाहर से निरंजन का प्रवेश—धोती, कुर्ता और उस पर जवाहर बंडी पहने हुए।)

निरंजन : नमस्ते !

कुन्तल : ओ ! तुम आ गये। (सँभलती हुई) आप आ गये !

निरंजन : हाँ-हाँ, 'तुम' आ गया···'आप' नहीं !

(दोनों की स्नेह-सिग्ध हँसी।)

कुन्तल : आइये, बैठिये।

कुन्तल : (चौखट की ओर संकेत करके) क्या हम यहाँ खड़े होकर बातें नहीं कर सकते ? यहाँ कुर्सी में बंधकर क्या बैठना ? कहीं तो मुक्त होने का अनुभव हो !

(दोनों चौखटे के पास खड़े होकर फुलवारी की ओर देखते हैं।)

कुन्तल : सुन्दरम जय को फुलवारी में घुमा रही है। (सामने आती हुई) ऐसी निर्मल सुन्दर लड़की मैंने और कहीं नहीं देखी। तितली की तरह सरल, शिशु जैसी नटखट !

निरंजन : आपकी सहेली जो है ! (कुन्तल को निहारकर) आपकी फुलवारी को देखकर यह अनुभव होता है कि इसके



पुष्प सृष्टि के अन्तःपुर से सौन्दर्य की डाली सजाकर ले आए हैं।

कुन्तल : पर ये पुष्प कितने कोमल और क्षणिकजीवी हैं ! फुलवारी में एक ब्राइडल क्रीपर है—साल-भर की तैयारी में केवल पिछले महीने नवम्बर में सिर्फ पन्द्रह दिनों तक के लिए फूलकर समाप्त हो गई। बहुत ही छोटे-छोटे पुष्प थे, सुगन्ध में डूबे हुए ! इसी तरह वह रातरानी है, कितने छोटे-छोटे पुष्पों से भरी हुई !

निरंजन : हाँ, रातरानी के पुष्प छोटे हैं, कोमल हैं, तभी वे शाश्वत हैं, क्योंकि सभी इनका वरण कर लेना चाहते हैं।

(फुलवारी में से सुन्दरम और जयदेव की उन्मुक्त हँसी आती है।)

कुन्तल : यह हँसी कितनी अच्छी लग रही है।

निरंजन : फुलवारी की हँसी है। सुनिए, एक बात पूछूँ ?

कुन्तल : पूछिए न !

निरंजन : आप तो व्यक्ति हैं न ?

(कुन्तल को हँसी आ जाती है।)

कुन्तल : खूब प्रश्न है आपका ! मैं व्यक्ति नहीं हूँ तो क्या हूँ ? जी हाँ, मैं कुन्तल हूँ।

निरंजन : मैंने सोचा कि 'पांतिवाद' की तरह आप भी···

कुन्तल : (बीच ही में) निरंजन बाबू, स्त्री की सबसे बड़ी करुणा यह है कि वह रुपये में पाँच आने भी अपने को प्रकट नहीं कर पाती—जबकि आनन्द है अपने पूर्ण प्रकाश में। इसलिए स्त्री पुरुष की अपेक्षा दीन है। जहाँ दीनता है वहाँ प्रकाश कहाँ ! (रुककर निरंजन को

देखने लगती है) यह पतिवाद उसके व्यक्ति का एक पहलू है परन्तु उसकी अन्तरात्मा···?

कुन्तल : (उधर देखने लगती है) देखो देखो, कैसे नाच रहे हैं दोनों ! जय को होटल में खूब नाचने को मिलता है। बेचारी सुन्दरम 'बॉलडांस' क्या जाने ! (दौड़कर चौखट के पास से पुकारती है) जय···जय···! क्यों बेचारी को खामखाह इस तरह खींच रहे हो ? यही फुलवारी देखने गये थे ?

(निरंजन को अन्यत्र कोई ध्यान नहीं है। वह बुक-रैक में से पुस्तक देखने लगता है।)

निरंजन : साहित्य में क्या चीज़ आपको बहुत प्रिय है ?

कुन्तल : काव्य। और आपको ?

निरंजन : मुझे संगीत प्रिय है। संगीत के बाद नाटक···

कुन्तल : मैंने तो केवल संस्कृत नाटक पढ़े हैं। अभिज्ञान शाकुन्तलम् में विरहिणी शकुन्तला दुष्यन्त को पत्र लिखती है—'तव न जाने हृदयं मम पुनर्मदनो दिवाऽपि रात्रिमपि। तापयति बलीयस्तव हस्त मनोरथान्यङ्गनि।'[1]

निरंजन : 'साइनो डी बेर्ज़ राक' में साइनो रॉक्सेन से कहता है—

'दैट ब्लासम इन माई हार्ट, आई विल फ्लिग टू यू आर्मफुल ऑफ लूज ब्लूम ! लव, आई लव ब्रियांड ब्रेथ, बियांड रीजन, बियांड लव्स् ऑन पावर ऑफ़ लविंग ! योर नेम इज़ लाइक गोल्डन बेल हंग इन माई हार्ट, एंड व्हेन आई थिंक ऑफ यू, आई ट्रेम्बल् एंड द बेल् स्विग्स् एंड रिंग्स —'रॉक्सेन ! रॉक्सेन ! ···एलांग माई वेल्स, रॉक्सेन !'"[1]

निरंजन : आज सुबह जब मैं घर से चलने लगा तो मुझे ऐसा लगा कि किसी ने शायद परीक्षा के लिए बुलाया है।

कुन्तल : परीक्षा ? कैसी परीक्षा ?

निरंजन : किसी तरह की भी।

कुन्तल : सच !

निरंजन : हाँ, कुन्तल !

कुन्तल : (सहसा) वह देखो अंजलि में पुष्प भरे वह सुन्दरम अब इधर आ रही है ! ···तुम कहते थे न कि व्यक्ति का विवाह व्यक्ति से होता है ?

निरंजन : हाँ, जिसका आधार प्यार हो।

कुन्तल : प्यार नहीं, प्रेम, जो दोनों को सम्पूर्ण करता है, दोनों को मुक्ति देता है। (पास आकर) सुन्दरम तुमसे बहुत प्रभावित है। तुमसे मिलने से पूर्व उसे विश्वास हो गया था कि इस समाज में अब ऐसे पुरुष नहीं, जिनसे

---

१. "निठुर, तुम्हारे हृदय की क्या दशा है, यह तो मैं नहीं जानती, पर मेरे अंगों को, जिनका सुख तुम्हारे हाथ में है और जिनकी भावना तुममे लगी हुई है, कामदेव दिन-रात प्रबल वेग से जलाता है।"

१. "ओ मेरे हृदय के बसंत, मैं तुम पर फूलों की वर्षा कर दूंगा। प्रिय, मैं तुमसे प्यार करता हूँ, जीवन से बढ़कर, विवेक से बढ़कर, स्वयं प्रेम की प्यार करने की क्षमता से बढ़कर, मैं तुम्हें प्यार करता हूँ। तुम्हारा नाम एक स्वर्णघंटिका की भाँति मेरे हृदय में टंगा है; जब मैं तुम्हें याद करता हूँ तो मुझे रोमांच हो आता है, और यह घंटिका बज उठती है, तुम्हारे नाम के स्वर में—रॉक्सेन ! रॉक्सेन ! ···मेरी रगों में तुम्हारा नाम गूँज उठता है, रॉक्सेन ! रॉक्सेन !"

सचमुच ब्याह किया जाए।

निरंजन : पर मैं तो कायर···अपदार्थ हूँ।

कुन्तल : तुमने एक दिन कहा था न कि स्त्री मानव-जाति का उत्तम अंश है। क्योंकि वह बलिदान, विनम्रता, श्रद्धा और रूप की प्रतिमा है।

(निरंजन चुप है। उसी क्षण भीतर से अकेली सुन्दरम अंजलि में पुष्प भरे आती है।)

सुन्दरम : कुन्तल, लो ये पुष्प। तुम्हारी फुलवारी में जो सबसे उत्तम फूल थे, सब तोड़ लाई हूँ। बोलो, कहाँ सजाऊँ ?

कुन्तल : चरणों में। (भावावेश में बढ़कर सुन्दरम की अंजलि थाम लेती है। निरंजन के पास लाती हुई) बोलो, स्वीकार है यह !

सुन्दरम : कुन्तल !

निरंजन : स्वीकार है ! बस ! हो गई मेरी सप्तपदी !

(निरंजन सुन्दरम की अंजलि को अपने हाथों में ले लेता है। कुन्तल मूर्तिवत् निरंजन को देखती रह जाती है। सुन्दरम को जैसे कोई महान् मंत्र स्पर्श कर गया हो।)

निरंजन : इस क्षण मैं एकाएक पूर्ण हो गया कुन्तल !

कुन्तल : सुन्दरम !

निरंजन : बस, अब यज्ञ पूरा हो गया कुन्तल !

(कुन्तल सुन्दरम की अंजलि पकड़ कर निरंजन के चरणों की ओर झुकती है। निरंजन उन हाथों को अपने हाथ में सँभाल लेता है।)

निरंजन : बस-बस हो गयी आरती !

कुन्तल : निरंजन, मैंने तो बस यूँ ही कहा था।

निरंजन : मैं यही चाहता था, आप किसी तरह कुछ तो कहें !



कुन्तल : सुन्दरम !

(निरंजन सुन्दरम का हाथ पकड़े तेजी से निकल जाता है। कुन्तल फफककर रो पड़ती है।)

कुन्तल : सुन्दरम ! तुमने कहा था कि इनाम में मैं कुन्तल को ही लूँगी ! मैंने तुम्हें दे दिया !

(आँचल में उमड़ते हुए आँसुओं की धारा बाँध लेना चाहती है। तभी माली आता है।)

माली : माँ !···माँ !···हँसी-हँसी में यह क्या हो गया ?

कुन्तल : ब्याह !

माली : सुन्दरम से निरंजन बाबू का ब्याह ! इस पर कौन एतबार करेगा, माँ ?

कुन्तल : मेरा मन।

माली : ऐसा ब्याह मैंने कभी नहीं देखा था, माँ। जैसे पृथ्वी पर सतगुरु ने ब्याह रचा हो।

कुन्तल : बिना कर्मकांड का ब्याह। धन्य है तू, सुन्दरम।

(उसी क्षण भीतर से जयदेव का प्रवेश—टाई की गाँठ ठीक करता हुआ। कोट दायें कंधे पर झूल रहा है।)

जयदेव : कैसा ब्याह ? कैसा ब्याह का कर्मकांड ? अरे बोलती क्यों नहीं ?

(कुन्तल हँसती हुई दीवान पर गिर पड़ती है। माली अन्दर चला जाता है।)

जयदेव : अरे···रे···रे ! यह क्या हो गया बोलो न ! सुन्दरम कहाँ है ?

कुन्तल : सुन्दरम !···उसका ब्याह हो गया।

जयदेव : किससे ?

कुन्तल : निरंजन से (हँसती है।)

जयदेव : (डांट देता है।) बन्द करो यह हँसी। दिमाग तो

तुम्हारा ठीक है न !

कुन्तल : बिल्कुल ठीक। देखो न ये बिखरे हुए पुष्प। दूल्हा-दुलहिन के पैरों से रौंदे हुए।

जयदेव : (पुकारता हुआ) माली, चलो इधर।

माली : (प्रविष्ट होकर) क्या है, भैया ?

जयदेव : सच-सच बताओ, क्या हुआ है यहाँ पर ?

माली : सुन्दरम से निरंजन का ब्याह।

जयदेव : (बिगड़कर) सधुक्कड़ी भाषा में मत बोलो मुझसे।

माली : सही बता रहा हूँ, भैया। सुन्दरम बीबी से निरंजन भैया का यहाँ ब्याह हुआ है।

जयदेव : किसने कराया यह ब्याह ?

कुन्तल : मैंने। मेरे अन्दर के ईश्वर ने।

जयदेव : अगर यह सच है तो तुम्हारा ईश्वर तुम्हारी ही तरह बेवकूफ है। माली, तुम जाओ यहाँ से।

(माली का प्रस्थान)

जयदेव : बोलो, सच है यह ?

कुन्तल : सच है !

जयदेव : उनका ब्याह कराने का तुम्हें क्या अधिकार था ? कौन होती हो तुम ?

कुन्तल : (प्रसन्नमुख) पृथ्वी पर सुन्दरम का संगीत छिड़ा है, तुम उसमें अपना बेसुरा राग मत छेड़ो जय !

जयदेव : अन्दाज़ है, तुमने क्या किया है ?

कुन्तल : मैंने पुण्य किया है ?

जयदेव : तुमने बदला लिया है। ब्राह्मण लड़के से कायस्थ लड़की की शादी !

कुन्तल : जय ! ईश्वर के लिए ऐसा मत कहो।

जयदेव : तुम्हारा ! (कटुता से कुन्तल को देखता रह जाता है।)



तुम्हारे इस कर्म को निरंजन के पिता क्या सोचेंगे। क्या अर्थ लगाएंगे इसका ?

(कुन्तल आहत होकर चुप है।)

जयदेव : निरंजन की शादी के लिए जहाँ तुम्हारे पिताजी पाँच हजार रुपये देकर भी उसके पिता को नहीं सन्तुष्ट कर पाये और तुम्हारी शादी टूट गयी, वहाँ तुमने उसी निरंजन की शादी इस तरह मुफ्त में कर दी। यह बदला नहीं है तो क्या है ?

कुन्तल : जय ! मत बोलो यह भाषा। मत बोलो।

जयदेव : और कल से जब सारा लखनऊ यह कहेगा तब ?

कुन्तल : मैं सारे लखनऊ को जवाब दे दूँगी, पर तुम मुझे मत कहो, जय ! मत कहो ! (रोती हुई जय के हाथों में अपना मुँह छिपा लेती है।)

(पर्दा गिरता है।)

# तीसरा अंक

## पहला दृश्य

वही स्थान। पिछले अङ्क से प्रायः डेढ़ महीने बाद। दिन के चार बज रहे हैं। पर्दा उठने पर दृश्य सर्वथा सूना है। सहसा घर के भीतर से दो व्यक्तियों की तेज हँसी उठती है। कुछ क्षणों के बाद कुछ व्यक्तियों में परस्पर बातें उभरती हैं, लगता है खूब जमकर ताश का खेल चल रहा है। इसी बीच बाहर से सुन्दरम का प्रवेश। बसंती रंग की बनारसी साड़ी में कंधे पर कामदार शाल डाले हुए। जूड़े में गुलाब का सफेद पुष्प लगाए। दोनों कलाइयों में चूड़ियाँ भरी हैं। सीमांत में चटक सिन्दूर। कमरे में प्रवेश कर कुछ क्षण चुप खड़ी रह जाती है। दरवाजे के भीतर से आते हुए स्वर को सुनती है। चौखट की ओर बढ़कर माली को पुकारती है।)

सुन्दरम : माली ! माली बाबा ?

(सुन्दरम सामने बढ़ आती है। भीतर से माली का प्रवेश।)

माली : नमस्ते, बीबी जी ! नहीं,···नहीं बहूरानी !

(दोनों की स्नेह-स्निग्ध हँसी।)

सुन्दरम : जयदेव बाबू भीतर हैं न ?

माली : हाँ, दोस्तों के संग ताश खेल रहे हैं।

सुन्दरम : और कुन्तल ?

माली : पढ़ाने गयी हैं।

सुन्दरम : (आश्चर्य से) पढ़ाने गयी हैं ? किसने जाने दिया उसे ? हॉस्पिटल से आये हुए उसे अभी दस दिन भी तो नहीं हुए।

माली : क्या बताऊँ, बहूरानी ! मैंने तो बहुत कहा, पर भैया ने माँ को रोका ही नहीं। कहा—"घर पर बैठे रहने से अच्छा है बाहर ज़रा घूम आएँ !"

सुन्दरम : हूँ। इतनी लम्बी बीमारी के बाद। नौकरी कहीं भागी जा रही थी क्या ?

(पृष्ठभूमि से फिर उसी एक व्यक्ति की तेज हँसी। फिर आवेश-भरी बातें—'तुमसे कोई कम है क्या', 'तो चलो न', 'यह लो चाल', 'शो करो'। एक तेज स्वर—'रन विद कलर'। बीच में एक हँसी। एक स्वर झल्लाया हुआ—'बड़े आए खेलने वाले !')

माली : बारह बजे से ये लोग ताश खेल रहे हैं। वे एक जो जोगी बाबू हैं, इतने क्रोधी कि प्रकाश साहब को गाली दे बैठे। हाथापाई की नौबत आ गई। राम··· राम···मेरे मालिक के घर में ऐसा कभी नहीं हुआ। क्या करूँ, कछ समझ में नहीं आता। बैठो बहूरानी ?

सुन्दरम : मैं कुन्तल को देखने आयी थी। उसे अपने संग घर ले जाती।

माली : तो आप बैठिये न, कॉफी लाऊँ, या फुलवारी में घूमने चलेंगी ? खूब फल आ गए मेरी बगिया में !

सुन्दरम : और फल ? (दीवान पर बैठ जाती है।)

माली : फल का तो क्या हाल बताऊँ, बहूरानी। भैया ने इस फसल को आठ सौ रुपये में कुँजड़े के हाथ बेच

दिया। अमरूद, संतरा, केला, पपीता, नीबू, आँवला, ···सब मिलाकर छः सौ रुपये के फल तो यूँ ही बिक जाते। और सब ऊपर से खुद खाते-पीते। उपहार-भेंट भी देते। पर दो सौ की खातिर भैया ने मालिक के बाग़ की बेइज्ज़ती कर दी।

(पृष्ठभूमि से फिर वही ताश खेलनेवालों की शोरगुल, हँसी।)

सुन्दरम : अच्छा माली बाबा, मैं फिर शाम को आऊँगी, कुन्तल से कह देना। (उठकर जाने लगती है।)

माली : नहीं-नहीं, ऐसे कैसे जाओगी बहूरानी! आओ, आराम से यहाँ कुर्सी पर बैठो। माँ अभी आ जाती हैं, मेरा मन कह रहा है।

(सुन्दरम बेंत की कुर्सी पर बैठ जाती है।)

माली : (अति स्नेह से) एक पेड़ सुगना अमरूद, एक पेड़ राय मुनिया केला और एक पेड़ बुटवलिया संतरा—ये तीनों पेड़ मैंने कुँजड़े के हाथ में नहीं पड़ने दिये। ये तीनों पेड़ मेरे मालिक के हाथ के लगाए हुए हैं। इनके फल मैं भैया और माँ को खिलाता हूँ। माँ की इतनी लम्बी बीमारी में मैंने कुँजड़े से फल नहीं मंगाने दिए, नहीं तो मालिक के बाग की बेइज्ज़ती हो जाती और अगर कहीं बेइज्ज़ती हो जाती, तो फिर आगे बगिया में इतने फल नहीं आते!

सुन्दरम : तो पेड़-पौधे भी मान-अपमान मानते हैं?

माली : हाँ, बहूरानी!

(भीतर से परस्पर तेज बातें करते हुए प्रकाश, योगी और जयदेव निकलते हैं।)

योगी : अच्छा-अच्छा, फिर देखूंगा!



(योगी तेज़ कदमों से बाहर निकल जाता है। जयदेव और प्रकाश दरवाजे के पास खड़े होकर बातें करते हैं। माली अन्दर चला जाता है। सुन्दरम कुछ पढ़ने लगती है।)

जयदेव : पिट गए तो खामखाह नाराज़ हो गए!

प्रकाश : आज तुम जीते भी खूब!

जयदेव : भाई, रोज़-रोज़ तो हारता हूँ, आज तुम्हारी मेहर-बानी से जीत गया!

प्रकाश : उसे अन्त में शक हो गया कि हम-तुम मिली खेल रहे हैं।

जयदेव : बहुत हार गया बेचारा!

प्रकाश : हाँ, खूब हारा आज!

जयदेव : और हमेशा जो हारता रहा!

(जयदेव प्रकाश के संग बाहर निकल जाता है और क्षण-भर बाद फिर कमरे में प्रवेश करता है।)

जयदेव : (सुन्दरम को देखते ही) हलो!···सुन्दरम, तुम यहाँ चुपचाप बैठी हो!

सुन्दरम : और क्या मैं आप लोगों की तरह बैठकर शोर करूँ? लोग बिल्कुल सही कहते हैं—'ताश खेलना बहुत··· बहुत बुरी बात है।'

जयदेव : मैं भी इसे मानता हूँ। पर क्या करूँ, कभी-कभी अपने मन को इसमें फँसा लेता हूँ।

सुन्दरम : तो आपका मन इतना खाली रहता है कि उसे इस तरह फँसाने की ज़रूरत पड़ती है।

जयदेव : शायद!

सुन्दरम : ओह, शायद!

जयदेव : अच्छा हटाओ इन बातों को, बताओ, कैसी हो तुम? तुम्हारी गृहस्थी कैसी चल रही है?

सुन्दरम : बहुत अच्छी। इतनी अच्छी कि मैं ईश्वर में विश्वास करने लगती हूँ।

जयदेव : बड़ी खुशी की बात है। (रुककर) क्यों न हो! तुम्हारी गृहस्थी में अभाव ही क्या है। सीधे-सादे निरंजन बाबू···इतने कट्टर पिता के पुत्र···तभी इतने संयमी और नेक···

सुन्दरम : (उठ खड़ी होकर) ओहो! आज कितना अच्छा मूड है आपका!

जयदेव : आज मैं बहुत दिनों बाद जीता। (रुककर) बहुत दिनों बाद···

सुन्दरम : आज आप प्रेस नहीं गए?

जयदेव : नहीं मेरा मन नहीं लगता प्रेस में। यों प्रेस देखने-वाले लोग हैं वहाँ—जॉब मैनेजर, बड़े बाबू, छोटे बाबू।

सुन्दरम : आपका मन कहाँ लगता है, सच-सच बताइये!

जयदेव : सच, कहीं नहीं! इतनी अच्छी फुलवारी, इतना सुन्दर घर···कुन्तल जैसी सुन्दर स्त्री, धन कमाने के लिए इतना बड़ा प्रेस। लखनऊ में इतने दोस्त-एहबाब, लखनऊ की यह इतनी प्यारी जिंदगी,···पर मेरे लिए सब···(अपने को सहसा सँभालकर) आप बैठिए न! सच, मैं आज यह अनुभव कर रहा हूँ, इंसान जब कभी खुश होता है, तभी तक वह इंसान रह पाता है, तभी वह सच बोलता है, तभी वह संसार के सारे शुभ कर्म करने का हौसला करता है। (रुककर) सच, भाग्यवान हैं, जो खुश रहते हैं।

सुन्दरम : आप क्या भाग्यशाली नहीं हैं! इतने स्नेही, यशस्वी पिता के पुत्र, कुन्तल जैसी श्रेष्ठ नारी के पति!



जयदेव : यही तो सारा कष्ट है! मैं इतने सुख में पला हुआ! ऐसे उदार पिता का इकलौता पुत्र, जिसने कभी दुःख संघर्ष जाना ही नहीं। यह क्या कोई कम दुर्भाग्य की बात है।

सुन्दरम : तो आप दुःख और संघर्ष का मूल्य मानते हैं!

जयदेव : मेरा मतलब साधारण दुःख-संघर्ष से नहीं, जहाँ इंसान को झूठ पर झूठ बोलना पड़ता है, जहाँ उसे हारकर अपने से भी छोटा बनना पड़ता है! (रुककर) दुःख, संघर्ष, कष्ट वह, जहाँ मनुष्य को ताल ठोककर जलना पड़े, ताकि उसमें से प्रकाश फैले!

(सुन्दरम चुपचाप जयदेव को देख रही है।)

जयदेव : ओह! माफ कीजिएगा, मैं पता नहीं क्या-क्या बक गया! यह बताइए, आप कैसे आयी थीं!

सुन्दरम : कुन्तल से मिलने।

जयदेव : ओहो! और क्या मुझसे मिलने।

सुन्दरम : पर आप यह बताइए 'किडनी ट्रबल' की इतनी लम्बी बीमारी के बाद आपने कुन्तल को इतनी जल्दी क्लास लेने क्यों जाने दिया?

जयदेव : सोचिए, मैं कैसे रोकता कुन्तल को! टेम्परेरी सर्विस है अभी उसकी; डेढ़ महीने की छुट्टी कम नहीं होती! फिर अब वह बिल्कुल ठीक हो गयी है। (रुककर सहसा) और हाँ, आप तो बताइए, आप इस समय सीधे रेडियो स्टेशन से आ रही हैं क्या?

सुन्दरम : अरे? अरे आपको नहीं मालूम! मैंने अपनी नौकरी से इस्तीफा दे दिया!

जयदेव : इस्तीफा दे दिया? सच!

सुन्दरम : जी हाँ, आज दस दिन हुए, मैं मुक्त भी हो गयी!

जयदेव : आखिर क्यों ?

सुन्दरम : मेरे निरंजन की इच्छा ! उन्होंने कहा—'धन कमाने के लिए मैं काफी हूँ, यह तुम्हारा काम नहीं !'

जयदेव : (हँस पड़ता है) तुम्हारी भी जोड़ी आधुनिक और मध्ययुग की है !

सुन्दरम : मैं अभी आती हूँ, जरा कुन्तल को पास की दुकान से फोन कर दूँ ! (जाने लगती है।)

जयदेव : अरे··रे···रे ! रुकिये तो ! नाराज हो गयीं क्या !

सुन्दरम : मैं और नाराज ! अभी आयी ।

(सुन्दरम प्रसन्नमुख बाहर चली जाती है। जयदेव देखता रह जाता है। भीतर से माली आता है—एक प्लेट में फल लिए हुए।)

माली : अरे बहूरानी चली गयीं क्या !

जयदेव : हाँ, चली गयीं, क्यों ?

माली : माँ से मिलने आयी थीं वे ।

जयदेव : तो···?

माली : कुछ नहीं ।

जयदेव : तो अन्दर जाओ न ! यहाँ मुँह बनाये क्यों खड़े हो ?

माली : (बात चुभती है) आप किस तरह से बातें करते हो भैया ! आपको क्या हो जाता है ? मैं आपका नौकर-चाकर नहीं, जो आप मुझसे इस तरह की बातें करें !

जयदेव : माली !

माली : आप समझते हैं, मैं आप से डर जाऊँगा ! इसी दिन के लिए मैंने आपको प्रेम-आसीस दिया है ! गोद खिलाया है ? पाला-पोसा है ? कैसे से कैसा विचार-कर्म होता जा रहा है आपका—क्या प्रेस···क्या



घर गृहस्थी·· क्या···(जाता हुआ) ऐसा मन, ऐसी बानी ! (अपने को संभालता हुआ भीतर चला जाता है।)

जयदेव : (पीछे बढ़ता हुआ) माली···सुनो माली···!

(उसी क्षण बाहर से कुन्तल का प्रवेश)

कुन्तल : क्या है !

जयदेव : (घूम पड़ता है) हैलो कुन्तल !···अरे, बहुत उदास लग रही हो क्या बात है ? बोलो···!

कुन्तल : कोई खास बात नहीं ।

जयदेव : तबीयत तो ठीक है न ?

कुन्तल : बिलकुल ठीक ?

जयदेव : लगता है बहुत थक गयी हो ! इतनी लम्बी बीमारी के बाद···

कुन्तल : (सहसा) मैंने अपनी नौकरी से इस्तीफा दे दिया ।

जयदेव : इस्तीफा दे दिया ? क्या बात हुई, बोलो आज आखिर ऐसी क्या बात हो गई ?

(कुन्तल चुप है।)

जयदेव : यह क्या किया तुमने ? बोलो, ऐसी क्या बात हुई ?

कुन्तल : मेरा मन !

जयदेव : आखिर उस मन की कोई सींग-पूँछ भी है ?

कुन्तल : सींग-पूँछ जानवरों की होती है। मैं मनुष्य हूँ, चेतन प्राणी !

जयदेव : हाँ-हाँ मैं भी मनुष्य हूँ, तभी पूछ रहा हूँ। आखिर मेरा भी तो तुम पर कुछ अधिकार है !

कुन्तल : कुछ क्यों, पूरा अधिकार है आपका ।

जयदेव : कुन्तल, मुझसे किस्से मत बुझाओ, साफ-साफ बोलो !

कुन्तल : आप इतने परेशान क्यों हो रहे हैं ? मुझे महिला विद्यालय में दूसरी नौकरी तुरन्त मिल गयी है।

(दिखाती हुई) यह देखिए 'एप्वाइण्टमेण्ट लेटर', वही तनख्वाह, वही नौकरी !

जयदेव : (पढ़कर) ठीक है, पर इसकी नौबत ही क्यों आयी !

कुन्तल : मेरा मन !

जयदेव : (चिढ़कर) मेरा मन ! मेरा मन !···पर तुम्हारे उस मन का मालिक मैं हूँ ।

कुन्तल : वह सही है । पर आप मेरी आत्मा के मालिक नहीं हैं ।

जयदेव : आत्मा !

कुन्तल : आप कहते हैं न कि आपमें 'डबल पर्सनेलिटी' है—एक आप मेरे पति, दूसरा आपका बाहर का व्यक्तित्व ! मेरे पास भी दो शक्तियाँ हैं—एक मेरा शरीर, दूसरी मेरी आत्मा !

जयदेव : ओफ् ! बन्द करो यह बकवास कुन्तल !

कुन्तल : तुम्हारे लिए यह बकवास हो सकती है, पर मेरे लिए यही सत्य है । यह नौकरी, ये सारे साज-शृंगार, जगत् के ये सारे प्रसाधन इसी देह के लिए हैं ।

जयदेव : इसी देह में वह तुम्हारी आत्मा है । इसी देह के रथ पर तुम्हारी आत्मा सवार होकर आयी है ।

कुन्तल : हाँ, मैं इसी देह के रथ पर सवार होकर आयी हूँ । सो क्या इसीलिए कि मैं उससे अपनी दुर्दशा कराऊँ ! नहीं, इस देह पर मेरी सत्ता चलेगी । इसकी स्वामिनी मैं हूँ ।

जयदेव : मैं देखता हूँ, 'किडनी ट्रबल' ने तुम्हारा दिमाग खराब कर दिया है । सवाल कुछ, जवाब कुछ । मैं पूछता हूँ कि तुमने यूनिवर्सिटी के म्यूजिक डिपार्टमेंट से रिज़ाइन क्यों किया ! जवाब में तुम शंकराचार्य बन गयीं ।



कुन्तल : सुनोगे, मैंने क्यों रिज़ाइन किया !

जयदेव : वही तो सुनना चाह रहा हूँ !

कुन्तल : मेरी यह नौकरी जिस व्यक्ति द्वारा दिलाई गयी थी, मैं उस भाव को नहीं सहन कर सकती ।

जयदेव : ओहो ! यह नौकरी तो तुम्हें तुम्हारी योग्यता से मिली थी ।

कुन्तल : नहीं ! मेरी यह नौकरी मिली थी, निरंजन बाबू के प्रयत्न से ! (रुककर) तुम्हारे भीतर ईश्वर है, मैं उसकी सौगन्ध दिलाकर तुमसे पूछती हूँ, क्या यह झूठ है !

जयदेव : पर इसमें बुराई क्या है ! आखिर इंसान इंसान की सहायता करता है ।

कुन्तल : पर हर इंसान निरंजन बाबू नहीं है !

जयदेव : फिर क्या हैं निरंजन बाबू !

कुन्तल : पता नहीं । पर मैं उनकी दया नहीं चाहती । यह मेरा अपमान है । इस देह को मैं दुःखों की आग में भस्म कर दूँगी, और आत्मा की जय-जयकार करूँगी कि मैं मुक्त हूँ, मैं मनुष्य हूँ । (रुककर) दया का पात्र केवल पशु है ।

जयदेव : तो निरंजन और सुन्दरम पशु हैं । उनका विवाह करके तभी तुमने उनपर दया की है ।

कुन्तल : काश ! तुम अनुभव कर पाते दया क्या है और धर्म क्या है !

जयदेव : तो मुझे उपदेश दे डालो न ! तुम जैसी समाज-सेविका, ज्ञानी···!

कुन्तल : खैर···

(कुन्तल भीतर जाने लगती है । जयदेव उसे रोकता है ।)

जयदेव : रुको ! निरंजन बाबू को जब तुम्हारी इस रिज़िग्नेशन का पता चलेगा, तब उन्हें कितनी चोट लगेगी, इसे सोचा है तुमने ?

कुन्तल : सोचा है ! चोट केवल हृदय पर लगती है !

जयदेव : हूँ ! निरंजन बाबू के हृदय नहीं है क्या ?

कुन्तल : अगर वह होता तो उन्हें पहले मेरी चोट का अन्दाज़ होना चाहिए।

(कुन्तल भीतर जाने लगती है। बाहर से सुन्दरम का प्रवेश।)

सुन्दरम : ओहो, कुन्तल ! मैं तो तुम्हें टेलीफोन करने गयी थी !

कुन्तल : सुन्दरम !···आओ, यहाँ बैठोगी या भीतर ?

जयदेव : मैं जा रहा हूँ—आप लोग यहीं बैठिए। (यह कहता हुआ बाहर निकल जाता है।)

कुन्तल : अभी आयी हो क्या ?

सुन्दरम : ऐसी भी क्या आफत थी कि आप अपनी 'ड्यूटी' बजाने चली गयीं। दो-चार दिन आप और आराम कर लेतीं, हुज़ूरे-आला !

कुन्तल : आओ, बैठो इधर।

(दोनों कुर्सी पर बैठती हैं।)

कुन्तल : सुनो एक बड़ी मजेदार बात ! पिछले दिनों जब मैं फुलवारी में लिली पाँड के किनारे आराम-कुर्सी पर पड़ी सुबह की धूप लेती थी न, तो एक खंजन दम्पती से मेरी दोस्ती हो गयी। सो कैसे—सुनो, मैं चुपचाप कुर्सी पर पड़ी हुई फर्नहाउस के ऊपर बेतरह फैलकर फूली हुई सुगन्ध भरी ब्राइडल क्रीपर के धवल पुष्पों को निहार रही थी—ऐसा लगता था कि जैसे पुष्पों



का बड़ा-सा सफेद बादल मेरे फर्नहाउस पर लेटकर धूप ले रहा हो। इतने में एक खंजन-दम्पति आर्चेड की ओर से उड़ते हुए आए और ठीक मेरे सामने पाँड के किनारे बैठ गए और युगल-गान शुरू कर दिया। वे दोनों बड़ी देर तक गाते रहे, फिर चह-चहाकर फर्नहाउस के ऊपर उड़ गए। दूसरे दिन वे ठीक उसी वक्त वहीं आकर बैठे और चुपचाप मेरी ओर निहारने लगे। फिर मैंने उन्हें एक गीत सुनाया।

सुन्दरम : इस तरह तुम्हारी उनसे दोस्ती हो गयी !

(सुन्दरम हँसती है। उसी समय भीतर से माली फल और नाश्ता लाता है।)

माली : पहले नाश्ता, फिर बात ! (सुन्दरम से) बहूरानी, खूब चुपके से भाग गयीं न ! (रुककर) बहूरानी, अब आप पूछो माँ से, ये क्यों गयीं आज पढ़ाने ?

कुन्तल : (चाकू से फल काटती हुई) वही बता रही हूँ बाबा ! अच्छा जाओ, अब चाय ले आओ और साहब को यहाँ भेजो।

(माली का प्रस्थान)

कुन्तल : सुन्दरम ! ब्राइडल क्रीपर पूरे वर्ष-भर में केवल पन्द्रह दिनों तक फूलती है, शेष वर्ष-भर वह उसकी तैयारी करती है। मैं सोचती हूँ, मनुष्य जो इतना कार्य-व्यस्त रहता है, सदा इतनी तैयारी में रहता है, ब्राइडल क्रीपर की तरह वह कब फूलता और सुगन्ध बिखेरता है ! और कब वह खंजन की तरह गाता है !

सुन्दरम : लो, यह खाओ। (स्वयं खाकर) मुझे तो कभी-कभी

लगता है कि मनुष्य भूल रहा है कि वह मनुष्य है।

कुन्तल : इतना सारा धन, इतना परिश्रम, यह सारी उधेड़-बुन इसीलिए तो है कि हमारा जीवन मधुर हो जाय।

सुन्दरम : आज तुम कुछ परेशान लग रही हो, कुन्तल !

कुन्तल : डेढ़ महीने बाद घर से बाहर निकली हूँ न ! डेढ़ महीने अपने मन में बन्द थी। आज बाहर निकली तो संसार का थपेड़ा मिला।

सुन्दरम : कुछ हो गया क्या ?

कुन्तल : मुझे एक दूसरी नौकरी मिल गई – महिला विद्यालय में। यूनिवर्सिटी को त्यागपत्र !

सुन्दरम : (आश्चर्य) सच ! यह क्या किया तुमने ! कहाँ यूनिवर्सिटी, कहाँ महिला विद्यालय !

कुन्तल : (हँसती है) सुनो···सुनो ! जब मैं हॉस्पिटल में थी और जिन दिनों मेरी तबीयत ज्यादा खराब थी—उन दिनों रात के पिछले पहर जब मुझे थोड़ी-सी नींद आ जाती थी, तब मैं अक्सर एक ही सपना देखती थी—एक बड़ा-सा सुनसान महल, जिसमें सुनहले कागज़ के फटे हुए पन्ने तेज़ हवा में चारों ओर उड़ रहे हैं। मैं उन उड़ते हुए फटे पन्नों का पीछा करती हुई सारे कमरों में दौड़ रही हूँ, पर मेरे हाथ कुछ भी नहीं आता। फिर मैं एक बड़े-से हॉल कमरे में फूलों की सेज पर गिर जाती हूँ, वहाँ कभी गन्धराज, रातरानी, हिरना, रजनीगंधा की खुशबू का झोंका आता, कभी सितार की झंकार, स्वर-मण्डल और बांसुरी का मोहक संगीत और उसके बीच किसी मायावी की तेज़ हँसी।



सुन्दरम : तुम्हें अभी आराम करना चाहिए, कुन्तल !

कुन्तल : अरे सुन्दरम, आराम का कोई प्रयोजन तो हो ! मैं तो अब बिल्कुल स्वस्थ हूँ। स्वस्थ रहकर आराम करना आत्मा का दमन है। ऐसे आराम में मन के बीमार हो जाने का डर रहता है और ऐसे में कहीं एक बार मन बीमार हुआ तो समझो बेड़ा गर्क ! ···'कम्प्लीट स्ट्राइक' !

(दोनों हँस पड़ती हैं। उसी समय निरंजन का प्रवेश।)

निरंजन : कहाँ स्ट्राइक कर रही हैं आप लोग !

कुन्तल : आइए···आइए···!

निरंजन : नहीं-नहीं, आप उठिए नहीं। मैं यह मूढ़ा ले लेता हूँ। (पीछे से मूढ़ा खींचकर बैठ जाता है।)

कुन्तल : बाहर एक लड़ाई जैसे मालिक और मजदूर की छिड़ी हुई है, शासक और मातहत में जैसे द्वन्द्व छिड़ा है वैसे एक लड़ाई हम सब में तो चल रही है, फिर तो यहाँ भी आत्म-स्ट्राइक लाज़मी है। (एक प्लेट में निरंजन को नाश्ता देती है।)

निरंजन : यह आत्म-स्ट्राइक तनख्वाह के लिए होगी या बोनस के लिए ?

सुन्दरम : दोनों के लिए !

(सब हँस पड़ते हैं। भीतर से माली ट्रे में चाय लाता है, और मेज पर रख देता है।)

माली : (कुन्तल से) माँ, आप चाय नहीं पिएँगी—आपके लिए यह दूध है।

कुन्तल : देखो न, चारों ओर शासन चल रहा है।

(सब हँसते हैं।)

कुन्तल : साहब कहाँ रह गए ? जाओ, जल्दी भेजो उन्हें।

(उसी क्षण जयदेव का प्रवेश)

जयदेव : इस मंडली में क्या मेरी ज़रूरत है ?

सुन्दरम : जी हाँ जनाब, यही तो आश्चर्य है।

(सबकी हँसी। जयदेव बढ़कर दीवान पर बैठ जाता है।)

निरंजन : कहिए जयदेव बाबू, प्रेस में वर्कर्स का मामला सब ठीक हो गया न ?

जयदेव : फिलहाल तो ठीक है। यों कुछ न कुछ चलता ही रहता है। वह तो आज की हवा में है। मेरी परेशानी यह है निरंजन बाबू, कि उसकी एक शाखा मेरे घर में पनप आयी है।

निरंजन : मैं समझा नहीं !

जयदेव : ज़नाबे-आली ! यह जो मेरी पत्नी श्रीमती शकुन्तला देवी हैं न, मेरे विरोध में हो इनकी परम शान्ति है। इनकी सहानुभूति मुझसे अधिक प्रेस के वर्कर्स से है, उनके बच्चों से है। मैं जो चाहूँगा उसे·····

(रुक जाता है।)

कुन्तल : रुक क्यों गये ? सब कह डालो न !

जयदेव : देखो, ज़िद मत करो मुझसे !

कुन्तल : नहीं, इसमें ज़िद की क्या बात ! तुम्हें कहना ही चाहिए।

जयदेव : तो कह दूँ, बुरा तो नहीं मानोगी ?

कुन्तल : (उठकर एक कप चाय देती हुई) नहीं, कभी नहीं, कभी नहीं।

जयदेव : निरंजन बाबू, आपको पता है, कुन्तल ने आज यूनिवर्सिटी की अपनी सर्विस से इस्तीफा दे दिया ?



और कारण जानते हैं क्यों ? इसलिए कि वह सर्विस आपकी कोशिश से मिली थी।

निरंजन : ठीक किया कुन्तल ने। मैंने नाहक ही उसका श्रेय ले लिया था !

जयदेव : क्या कहा ?

(कुन्तल हँस पड़ती है और हँसती रह जाती है।)

सुन्दरम : कुन्तल !

(कुन्तल अबाध गति से हँस रही है।)

जयदेव : बन्द करो यह बेशर्म हँसी !

कुन्तल : क्या करूँ ! मेरी इस हँसी की डोर टूटती ही नहीं, जैसे मुझमें यह हँसी मेरा पीछा कर रही है और मैं उस सूने महल के कमरों में उन उड़ते हुए सुनहले पन्नों का पीछा कर रही हूँ !

(फिर वही हँसी। सुन्दरम दौड़कर पकड़ लेती है।)

सुन्दरम : कुन्तल, कुन्तल ! मेरी ओर देखो। सुनो···सुनो··· सुनो···कुन्तल !

(कुन्तल अपनी हँसी के समुद्र में जैसे डूब रही हो, और सुन्दरम उसे बचा रही हो।)

[पर्दा गिरता है।]

## दूसरा दृश्य

(फरवरी का पहला सप्ताह। वही स्थान। वही दृश्य। दोपहर के अढ़ाई बज रहे हैं। जयदेव भीतर से कुन्तल को पुकारता आ रहा है।)

जयदेव : कुन्तल ! कुन्तल ! (प्रवेश कर) माली ! कहाँ है कुन्तल ?

माली : (आकर) माँ फुलवारी में हैं, भैया !

जयदेव : फुलवारी में क्या कर रही हैं ?

माली : इस साल बहुत ठंड पड़ने की वजह से 'स्टॉक' की क्यारी में फूल नहीं आए, वही देख रही हैं।

जयदेव : (झुँझलाया हुआ) 'स्टॉक' की क्यारी में फूल नहीं आये ! 'एक्रोक्लीनम' इस साल कम खिला ! 'मार्निंग ग्लोरी' का नया घर नहीं बना, नर्सिंग और ग्लेडी-वोलस को खाद कम मिली, इसलिए उनके फूल छोटे हुए ! गुलाब की क्यारी में 'पर्फेक्टा' और 'रोजगुजर्ट' आज भूखे रह गए। 'हेयासिन्थ' और 'ड़ेहलिया' को बुखार आ गया !

(इसी बीच माली दुःखी होकर भीतर चला गया है। अन्दर से कुन्तल आती है। उसके हाथ में एक पुष्प है।)

कुन्तल : अरे-रे···खामखाह माली बाबा पर इस तरह क्यों बिगड़ रहे हो ?···यह देखो, इस साल हमारे केसर की क्यारी में फूल आ गए। लो, हाथ में यह पहला पुष्प ! जिसकी फुलवारी में केसर खिले, उसके घर बहुत शुभ होता है। बड़ा मंगलमय है यह !

जयदेव : मंगल और शुभ ? इसके लक्षण इस घर में नही हैं।

कुन्तल : क्यों नहीं हैं ! यह केसर का पुष्प क्या है ?

जयदेव : बकवास है। आज पाँच दिनों से प्रेस में फिर स्ट्राइक चल रही है। तुम प्रेस-वर्कर्स की मुझसे छिप-कर सहायता करती हो। तुम्हें जितनी चिन्ता अपनी इस फुलवारी की है उतनी मेरी···

कुन्तल : (बढ़कर जयदेव के मुख पर हाथ रख देती है।) जय !



(केसर का फूल फर्श पर गिर पड़ता है।)

जयदेव : मुझे आज पता चला है, तुमने उस किशोरी की पत्नी को मुझसे छिपाकर पचास रुपये दिए हैं। वही किशोरी जो इस बार की 'स्ट्राइक' का लीडर बना बैठा है जो प्रेस के सामने तम्बू लगाकर प्रस के वर्करों में मेरे खिलाफ भाषण देता है। ऐसे किशोरी की पत्नी की सहायता करने वाला मेरा शत्रु नहीं तो क्या ?

कुन्तल : मैं तुमसे हाथ जोड़ती हूँ, जय ! तुम इसे इस तरह न सोचो ! किशोरी की पत्नी को बच्चा होने वाला है। वह अस्पताल में बेहोश पड़ी थी।

जयदेव : तुमसे मतलब ? इस शहर में इस तरह न जाने कितनी औरतें बेहोश पड़ी होंगी !

कुन्तल : आज से एक हफ्ते पहले जब तुमने बिना किसी नोटिस के किशोरी को प्रेस से निकाल दिया, उस दिन शाम को किशोरी की औरत ने किशोरी से कहा कि 'तुम जाकर मालिक से माफी माँगो !' किशोरी ने इस पर पागलों की तरह अपनी गर्भवती स्त्री को पीटा। वह पेट की चोट उसी दिन की है। सोचो, उस बेचारी औरत का क्या दोष ! उस अजन्मे बच्चे का क्या कसूर !

जयदेव : तभी तो वह स्ट्राइक आज पाँच दिनों से चल भी रही है। अब तक अगर वह स्त्री मर गई होती तब मैं देखता किशोरी की लीडरी !

कुन्तल : तब किशोरी अब तक खूँखार पशु हो गया होता ! जो महज़ स्ट्राइक करवा रहा है, वह अब तक अप-राधी हो गया होता !

जयदेव : और अब तक वह पुलिस की बेड़ियों में पड़ा जेल में नज़र आता !

कुन्तल : यह तुम्हारा सोचना गलत है। यह दंडनीति, यह पुलिस, ये जेलखाने इस समस्या को नहीं खत्म कर सकते ?

जयदेव : समस्या, समस्या ! कैसी समस्या ?

कुन्तल : धन और अधिकार की समस्या। एक बार मनुष्य जब धन-संग्रह करना शुरू कर देता है, तब वह अपने संग्रह के उद्देश्य को भूल जाता है, और तब वह उस धन के नशे में यह भी भूल जाता है कि इस धन का कमाने वाला कौन है, उसका इसमें कितना हिस्सा है !

जयदेव : तुम्हारा मतलब है, मैं प्रेस-वर्कर्स की 'डिमांड्स' मान लूँ ! उनका पिछले वर्ष का बोनस दूँ, महँगाई को उनकी तनख्वाह में जोड़ दूँ ! किशोरीलाल तथा अन्य सभी हटाये हुए वर्कर्स को उनकी नौकरी दूँ !

कुन्तल : महँगाई और बोनस—पिछले वर्षों में चीजें कितनी महँगी हुई हैं ! इतनी महँगी कि ज़िन्दगी सस्ती लगने लगी है।

जयदेव : (दीवान पर बैठता हुआ) अच्छा, फर्ज करो कि मैं प्रेस-वर्कर्स की ये सारी 'डिमांड्स' पूरी करता हूँ। अगले साल उनकी दूसरी, तीसरी माँग होगी—फिर क्या होगा ?

कुन्तल : तो इतिहास पर कहाँ किसका अधिकार है ?

जयदेव : (चुप रह जाता है।)

कुन्तल : (पास आकर स्नेह से) पिताजी ने तुम्हारे नाम बैंक में जो पचहत्तर हजार रुपये जमा किये हैं, मैं समझती हूँ,



इतने दिन के उनके सूद के रुपयों से बोनस दिया जा सकता है ! दे डालो बोनस उन्हें। और···

जयदेव : मेरा विश्वास सच निकला न, तुम मेरे साथ नहीं, प्रेस के उन वर्कर्स के साथ हो !

कुन्तल : तुम्हारी समस्या अधिकार की है न ? तभी तुम मुझे सदा बाँटकर देखते हो। तुम मुझे शायद पत्नी नहीं समझते, दहेज में मिली हुई महज़ एक औरत समझते हो, तुम मेरे पति हो, पर तुम अपने-आपको महज़ मेरा स्वामी समझते हो ! इसी तरह तुम प्रेस-वर्कर्स को अपना गुलाम समझते हो !

जयदेव : मैं वह सब ठीक समझता हूँ। मुझे अलग-अलग सबकी कीमत मालूम है। मुझे ज्यादा उपदेश मत दो। मैंने तुम जैसी बहुत औरतें देखी हैं !

कुन्तल : (मुस्करा देती है) यही तो मेरी करुणा है। तुमने बहुत औरतें देखी हैं, पर मैंने सिर्फ एक पुरुष देखा है, जिसका शुभ नाम जयदेव है !

जयदेव : (उठ खड़ा होता है) सच ? आओ चलो, यह मेरे हाथ पर हाथ रखकर कहो !

कुन्तल : सप्तपदी के वक्त उस अग्नि के सामने तुम्हारे हाथ में मेरा हाथ रखना क्या काफी नहीं था ?

जयदेव : नहीं···आओ, मेरे हाथ पर हाथ रखकर बोलो, प्रेस-वर्कर्स और मैं, यह फुलवारी, आर्चेड और मेरी ज़िंदगी, निरंजन और जयदेव, बोलो, तुम क्या चाहती हो ? किधर हो तुम ? क्या हो तुम ?

(कुन्तल जड़वत् जयदेव की हथेली पर अपने हाथ रखे ही रह जाती है।)

जयदेव : बोलो।

कुन्तल : (सहसा प्रकाशमय होकर)
तुम्हारी वाणी का अर्थ क्या है,
ओह महासागर ?
प्रश्न, प्रश्न···चिरन्तन प्रश्न !
मेरा उत्तर क्या है ओ महानीलाकाश !
मौन, मौन···चिरन्तन मौन !
प्रभु, मैं तुम्हें धन्यवाद देती हूँ
कि मैं अधिकार और सत्ता का
वह पहिया नहीं जो कुचलता है
मैं उन प्राणों से एकाकार हूँ
जो उनके नीचे कुचल जाते हैं।
पर मुझे कोई भय नहीं,
मैं सत्य हूँ,
असत्य डरता है
कि वह हारा तो नष्ट हो जाएगा।
पर मुझे कोई भय नहीं
मैं सत्य हूँ, सत्य।

(उपेक्षा भाव दिखाकर जयदेव भीतर चला जाता है। जब कुन्तल अन्तिम पंक्तियाँ कहती हुई घूमती है तो उसे जयदेव के स्थान पर माली बाबा मिलता है।)

माली : माँ, मैं तुम्हारा पुत्र नहीं हूँ क्या ? मैं मूरख हूँ, पर सब जानता हूँ। पर माँ, तुम मुझे कुछ नहीं बतातीं !

(कुन्तल थकी-सी कुर्सी पर बैठ गई है।)

कुन्तल : पता नहीं, जय को क्या हो गया है !

माली : दुःखी मत हो माँ !

कुन्तल : दुःख की मुझे कोई चिन्ता नहीं बाबा ! मेरा तो सारा दुःख एक साथ मेरे पिताजी भोगकर चले गये। मेरी



घर-गृहस्थी उन्हीं का एक स्वप्न है – एक महान् स्वप्न जिसके एक बार टूटने से उन्होंने अपना प्राण ही त्याग दिया, और अब यह··· (रो पड़ती है।)

माली : मत रो माँ ! चिन्ता मत करो !

कुन्तल : चिन्ता मुझे जय की है—अपने महान् दिवंगत पिता के स्वप्न की है। बोलो, मैं इसके लिए क्या करूँ, बाबा !

माली : मैंने मालिक से तभी विरोध किया था कि अपना कमाया हुआ धन इस तरह भैया को मत दो·· नहीं तो भैया का चरित्र छोटा होगा···और आज वही हुआ।

कुन्तल : मुझे अपनी सुख-शान्ति की ज़रा भी चिन्ता नहीं ! सारी चिन्ता मेरी जय की है।

माली : माँ, तुम अक्सर उदास हो जाती हो ?

कुन्तल : (चुप रह जाती है।)

माली : माँ, तुम क्या सोच रही हो ?

कुन्तल : कुछ नहीं (रुककर) सोचने से बड़ा कष्ट मिलता है, बाबा !

माली : भैयाजी और निरंजन बाबू में कितना फर्क है !

कुन्तल : चुप रहो माली बाबा !·····कोई और बात करो ! (माली जाने लगता है) नहीं-नहीं ! तुम जाओ नहीं ! मेरे पास खड़े रहो···कोई और बात करो·· मेरे संग इस तरह चुपचाप मत खड़े हो।

माली : माँ, तुम्हारी तबीयत आज ठीक नहीं लग रही है।

कुन्तल : छोड़ो यह सब बात !

माली : माँ !

कुन्तल : (माली बाबा को करुणा की दृष्टि से देखती रह जाती है।)

माली : विश्वास करो माँ ! जब तुम दुखी होती हो तो मुझे ऐसा लगता है कि फुलवारी के सब फूल मुर्झा गये हैं ! भैया की रातरानी का वह कुंज तब उदास हो जाता है। और जब तुम प्रसन्न रहती हो न, तो फुलवारी मारे महक के गमकने लगती है। न जाने कहाँ-कहाँ से रंग-बिरंगे पंछी आकर यहाँ गाने लगते हैं। चिक-घर में खंजन नाचते हैं। बगिया में श्यामा और सत-बहिनी चहचहाती हैं। बुलबुल गाती है। लिली पाँड के किनारे वह शुभ्र पंछी—महर आकर बैठ जाता है।

कुन्तल : महर पंछी !

माली : हाँ, माँ ! जिस दिन तुम अस्पताल से अच्छी होकर यहाँ घर आने को थीं न, उस दिन सुबह ही सुबह वह महर रातरानी के कुंज में आया था।

कुन्तल : रातरानी के कुंज में ! वाह री रातरानी ! (भाव-विभोर होकर चौखट के पास चली जाती है और फुलवारी को निहारने लगती है।)

माली : देखो न माँ, तुम्हारी फुलवारी में इस साल केसर के फूल आये हैं। तुम कितनी भाग्यवान हो माँ !

कुन्तल : मैं और भाग्यवान !

(उसी समय बाहर से निरंजन का प्रवेश)

कुन्तल : (जैसे सहम-सी जाती है) निरंजन !

निरंजन : मैं प्रेस-वर्कर्स के पास गया था। वहीं से सीधे आ रहा हूँ।

(कुन्तल खड़ी अपलक शून्य में कुछ देख रही है।)

निरंजन : बड़े समझदार हैं आपके प्रेस के वे लोग ! कई पार्टी-बाज़ नेता उन्हें भड़काने में लगे हैं, पर वे किसी के कहने में नहीं आये हैं। मैंने उनसे पूरे विस्तार में बातें कीं। अंत में मैंने उन्हें महज़ इस बात पर राज़ी कर लिया कि यदि तुम आज जाकर उन्हें धीरज बँधा दो, तो वे स्ट्राइक खत्म कर देंगे।

माली : वाह साहेब, आपने कितना बड़ा काम किया !

कुन्तल : पर आपने यह सब···

निरंजन : मैंने नहीं, आपने !

(माली प्रसन्नता से बाहर चला जाता है।)

निरंजन : मैं अभी जब यहाँ आया, तो आप कितनी उदास थीं !

कुन्तल : शायद, तुम यहाँ आने वाले थे

निरंजन : तभी उदास थीं आप ! ···देखिए, मज़ाक मत कीजिए। सही बताइये, माली से क्या बातें हो रही थीं ऐसी ?

कुन्तल : सही-सही कोई बता सकता है क्या ?

निरंजन : (अब चुप रह जाता है।)

कुन्तल : मेरे अमृत-सरोवर में जो कमल खिला था, उसी रूप-गंध के सहारे मैं सब कुछ सह लूँगी। और हर चोट मैं अपने माथे पर ही लूँगी, ताकि वह कमल···

निरंजन : पर तुम्हारे माथे पर ही चोट क्यों लगे ?

कुन्तल : संसार के सामने वही माथा है।

निरंजन : पर वह माथा निरपराध है।

कुन्तल : नहीं, उस पर ऋण है।

निरंजन : सिर्फ तुम्हारा ?

कुन्तल : हाँ, सिर्फ कुन्तल का·· कुन्तल स्वार्थी है·· कुन्तल के भीतर कहीं मैं बैठी हूँ·· यह कोई साधारण अपराध नहीं है।

निरंजन : कुन्तल !

कुन्तल : हाँ, ठीक संकेत कर रहे हो तुम ? मुझे उस भूमि से बोलने का अधिकार नहीं है। मेरे पास सिर्फ दायित्व है···।सर्फ···

निरंजन : बैठ जाओ कुन्तल !

कुन्तल : कहाँ ?

निरंजन : अच्छा चलो, कहीं घूम आएँ !

कुन्तल : मैं और घूमने जाऊँ ! ऐसा यहाँ कभी नहीं हुआ। जयदेव के पास फुर्सत नहीं है। बड़ी जिम्मेदारी है उस पर···!

(उसी समय बाहर से जयदेव का प्रवेश)

जयदेव : हैलो निरंजन ! बहुत-बहुत शुक्रिया···माली ने मुझे अभी बताया है कि आप प्रेस-वर्कर्स से मिलकर आये हैं। वे स्ट्राइक खत्म कर देंगे बशर्ते कुन्तल उनके सामने जाकर उन्हें धीरज बँधाये !

निरंजन : जी हाँ, वे तैयार हैं।

जयदेव : पर मैं तैयार नहीं हूँ —कुन्तल, मेरी पत्नी उनके सामने जाए···उनसे सिफारिश करने ! गैरमुमकिन !

कुन्तल : पत्नी केवल पति की ही सिफारिश कर सकती है।

जयदेव : तुम कुछ समझती नहीं !

कुन्तल : बिल्कुल

जयदेव : निरंजन बाबू, आप जानते नहीं इन वर्कर्स के दिमाग को ! ये बड़े बदमाश होते हैं।

निरंजन : जो भी हो···मैं इसीलिए उनके पास गया था कि स्ट्राइक खत्म हो जाये···

जयदेव : तो चले न स्ट्राइक···मुझे क्या नुकसान है !

निरंजन : यही तो बात है आप को शायद पता नहीं है···आज वे लोग एक जुलूस निकालने जा रहे हैं मैंने जब यह



सुना कि वे लोग शायद आपके घर पर भी धावा बोलेंगे, तभी मैं भागा गया उनके पास !

जयदेव : उनकी यह हिम्मत !

कुन्तल : मुझे उन प्रेस-वर्कर्स के सामने क्यों नहीं जाने देते ?

जयदेव : क्योंकि मैं यह नहीं चाहता !

कुन्तल : वह ठीक···पर इसका नतीजा क्या होगा ?

जयदेव : (चुप है।)

कुन्तल : जय, मुझे सिर्फ तुम्हारी चिन्ता है ! मेरे जीते-जी तुम्हारा और इस घर का कोई अहित हो जाए···यह मैं नहीं होने दूँगी !

जयदेव : फिर क्या करोगी तुम ?

कुन्तल : यह नहीं जानती मैं।

निरंजन : जयदेव बाबू, मान भी जाइए···जरा-सी तो बात है··· जाने दीजिए कुन्तल को···प्लीज, जिद मत कीजिए।

जयदेव : मैंने कह दिया···यह नहीं हो सकता।

(जयदेव तेजी से भीतर चला जाता है।)

कुन्तल : (कुछ क्षणों बाद) तुम्हें बहुत आश्चर्य हुआ ?

निरंजन : कैसी अजीब बात ! (सहसा) सुनो, उनका जुलूस अगर इस घर पर आये, तो तुम किसी भी तरह बाहर न आना···मैं रहूँगा बाहर···

कुन्तल : मैं तुमसे कुछ भी वादा नहीं कर सकती ! ···मुझे अन्दर भी रहना होगा और बाहर भी !

(निरंजन तेजी से चला जाता है।)

कुन्तल : (पुकारती है) माली बाबा ! ···(माली आता है) तुम देखना घर···मैं अपनी तनख्वाह लेने जा रही हूँ। तुम्हारे लिए इस बार गर्म कोट बनवाऊँगी।

(उसी क्षण भीतर से जयदेव का प्रवेश)

जयदेव : सारे 'प्रेस-वर्कर्स' को भी तुम्हें गर्म कपड़े बनवाने हैं इस साल !

माली : छि-छिः ! तुम माँ को तनिक भी नहीं समझते। इतनी चोट करते हो माँ पर !

कुन्तल : माली बाबा, आशीष दो मुझे कि सारी चोट मेरे माथे पर ही पड़े, उस हृदय पर नहीं जहाँ मेरा धर्म है···

(कुन्तल तेजी से बाहर चली जाती है। माली और जयदेव उसी दिशा में देखते रह जाते हैं।)

जयदेव : पिताजी मेरे नाम बैंक में पचहत्तर हजार रुपये जमा कर गये। मैं उन्हें नहीं खर्च करना चाहता। मैं सोचता हूँ, जिसके पास बैंक-बैलेंस में जितना ही अधिक धन होगा, उसमें उतनी अधिक शक्ति होगी !

माली : पर उस पचहत्तर हजार रुपये का ब्याज ? और प्रेस की कमाई ?

जयदेव : खर्च भी तो देखो हमारा !

माली : खर्चा है आपका ? मालिक के ज़माने से आधा भी तो नहीं है। न कार, न दरबान, न टेलीफोन, न वह दावत-तवाज़ो, न वह भेंट-उपहार ! क्या खर्चा है आपका ? वही ताश-जुआ, वही होटल···

जयदेव : माली !

माली : पहले आप यह पचहत्तर हजार रुपये खर्च कर लेते कि आप मुझसे कहते तब मैं समझता। माँ को नौकरी करने को मजबूर किया। बगिया में कुंजड़ा बैठा लिया। यह सब क्या है ? मेरी समझ में कुछ नहीं आता।



जयदेव : तुम मूर्ख हो, गधे हो, क्या समझाऊँ तुम्हें !

माली : सच कहते हो, मैं मूर्ख हूँ। और मेरी माँ ? और प्रेस के वे लोग ?

जयदेव : देखता हूँ, हर मामले में तुम्हारा दखल है !

माली : अजब बात है ! तुम्हारा, माँ का और मेरा सब अलग-अलग है क्या ? जैसे इस घर का एक हिस्सा यह बगीचा और फुलवारी है, उसी तरह दूसरा हिस्सा वह प्रेस भी तो है।

जयदेव : पर प्रेस की समस्या तुम्हारी फुलवारी की तरह नहीं है। फूल-पौधे माली से अधिकार नहीं माँगते। जितना उचित है, वे पानी-खाद पाते हैं और चुपचाप फूलते-फलते हैं।

माली : पर फूल-पौधे माली के गुलाम नहीं हैं, वे राजा हैं फुलवारी के।

जयदेव : चुप रहो माली ! तुम्हारी ज़बान बहुत बढ़ती जा रही है।

माली : तो कलम कर दो ज़बान ! पर मैं फिर भी कहूँगा, बहुत चुप रह कर देखता रहा। प्रेस की स्ट्राइक में जितना नुकसान हुआ है, उतने में सबको बोनस मिल गया होता। इस घर की इतनी बदनामी न हुई होती। सोचकर देखो भैया, मानुस अगर चाहे तो उसके चारों ओर आनन्द फैल जाए :

'करन क्यारी बोई तू रहनी कर रखवार
दुर्मति काग उड़ाई के देखे अजब बहार
मन माली परबोधिये करि संजम की बार
दया पौध सूखे नहीं छिमा सींच जल-धार'।

(कहता-कहता माली भीतर चला जाता है। जयदेव कुर्सी पर

मौन बैठा रह जाता है। बाहर से योगी और प्रकाश आते हैं)

जयदेव : (बिल्कुल बदली हुई स्थिति में) क्या ?—कैसे आए आप लोग ?

प्रकाश : बहुत नाराज़ हो गये हो ?

योगी : और अब तक वही गुस्सा !

प्रकाश : यार, भूल जाओ क्लब की वह दुर्घटना !

जयदेव : मैं भूल जाऊँ रात की वह घटना !

योगी : यार, गलती तो सरासर तुम्हारी थी। इक्के की वह ट्रेल तुमने चोरी से लगाई थी।

जयदेव : कैसी चोरी ?

प्रकाश : पॉकेट में उसी पत्ते के दो इक्के पहले से ही तुमने छिपाकर रखे थे।

जयदेव : उसका सबूत ?

योगी : सबूत था तो वहीं। थूकने के बहाने दो मामूली पत्ते तुमने वाशबेसिन के पास गिराये थे और फिर पॉकेट से वही दो इक्के मिलाकर तुमने इक्के की ट्रेल लगाई थी।

जयदेव : ठीक है। उसकी सज़ा तो तुम लोगों ने मुझे वहीं क्लब में दे दी ! अब और क्या चाहते हो ?

प्रकाश : मैंने तो सिर्फ तुम्हारा कॉलर पकड़ा था, पर पहला घूँसा तुम्हीं ने मारा था। (रुककर) उस समय क्लब के उस कमरे में सिर्फ हमीं तीन थे। इसे और कोई नहीं जानता।

जयदेव : अब क्या मतलब उस दफनाए हुए मुर्दे को फिर से उघाड़ने में !

प्रकाश : हम लोग तुमसे माफी माँगने आए हैं। आओ, हाथ मिलाओ !



जयदेव : अब कोई फायदा नहीं ! उस सबका कल रात अन्त हो गया।

प्रकाश : कैसी बात कर रहे हो तुम ! पिछले दस-बारह साल की दोस्ती ऐसे खत्म हो जाएगी !

जयदेव : बताओ, अब और कैसे खत्म करना चाहते हो ?

योगी : नाराज़ मत हो, प्यारे !···हम दोनों तुमसे माफी चाहते हैं। क्षमा···

प्रकाश : जयदेव भाई, तुम्हें पता है—आज सुना है कि प्रेस-वर्कर्स का जुलूस यहाँ तुम्हारे बंगले पर आने वाला है। और यह भी सुना है कि बात कुछ गम्भीर है।

(जयदेव चुप)

योगी : भई, चाहे जो बात हो, अपनी तो राय यह कि प्रेस वर्कर्स का जुलूस जब हजरतगंज के चौराहे से पुराने कॉफी हाउस की ओर बढ़े, तो गुंडे लगाकर पुलिस पर पत्थर फिंकवा दो—फिर पुलिस वाले खुद उन जुलूसवालों का दिमाग ठीक कर देंगे। फायरिंग नहीं तो लाठी-चार्ज ज़रूर।

जयदेव : सच ! तो कर दो यह इंतजाम ! बहुत एहसान मानूँगा तुम्हारा !

प्रकाश : हाथ मिलाओ !

(जयदेव उठकर दोनों से हाथ मिलाता है।)

योगी : पर एक एहसान तुम्हें भी करना होगा हम पर !

जयदेव : बोलो !

प्रकाश : बहुत बड़ी तमन्ना है वह···तुम उसे पूरी कर सकते हो !

जयदेव : बताओ तो ?

योगी : कहते तो हम हमेशा रहे हैं—पर तुमने कभी ध्यान

नहीं दिया !

जयदेव : क्या किस्सा बुझा रहे हो, यार !

योगी : तो कह दूँ ! बात पूरी करनी होगी तुम्हें ! (रुककर) बस, सुन्दरम से एक बार हमारी मुलाकात करवा दो !

जयदेव : तुम लोगों का मतलब क्या है ?

प्रकाश : हम उस पर जी-जान से फिदा हैं !

जयदेव : यह क्या बदतमीजी है ! तुम लोगों की यह हरकत मुझे कतई पसन्द नहीं !

योगी : यार, क्यों बनते हो बेकार में !

जयदेव : तुम लोगों ने मुझे इतना नीच समझा है !

प्रकाश : तो ठीक है ! कल रात क्लब की वह तुम्हारी चोरी हम सबके सामने रख देंगे।

जयदेव : 'ब्लैकमेल' करने आये हो ? बदतमीज कहीं के ! निकल जाओ यहाँ से !

योगी : ज़बान सम्हालकर बात करो वरना···!

(जयदेव आवेश में योगी को कालर से पकड़ लेता है और वहीं फर्श पर दे मारता है। प्रकाश जयदेव को कुर्सी उठाकर मारने चलता है, उसी क्षण बाहर से कुन्तल का प्रवेश।)

कुन्तल : नहीं – नहीं—

(दौड़कर कुर्सी थाम लेती है।)

कुन्तल : क्या है ? यह क्या है ?

योगी : (आग्नेय दृष्टि से) जाओ; छोड़ दे रहा हूँ आज। पर बच्चू, याद रखना मुझे ! मैं तुम्हें माफ नहीं करूँगा !

कुन्तल : मारना ही है न ! लो, मुझे मारो···! उठाओ कुर्सी !

(भीतर से माली दौड़ा आता है।)



माली : माँ ! यह क्या है ?

कुन्तल : मेरा जीवन !

(प्रकाश और योगी दोनों गुस्से में तेजी से चले जाते हैं।)

कुन्तल : यही तुम्हारे दोस्त थे न ! ···माली बाबा ! बताओ, मैं क्या करूँ !

(कुन्तल फफककर रोती हुई दीवान पर सिर टेक लेती है।)

जयदेव : कुन्तल, मैंने तुमसे कहा था न, मेरे पास दो व्यक्तित्व हैं—पर आज मैं तुमसे कहता हूँ कि ये दोनों झूठे हैं ! विश्वास करो, आज मुझे पहली बार चोट लगी है, वह भी सीधे हृदय में। कुन्तल, इस तरह अगर तुम रोओगी तो मैं कहाँ जाऊँगा ! तुम नहीं जानतीं, मैं अकेले कितना निर्बल हूँ ! बैंक में मेरे नाम जमा वे पचहत्तर हज़ार रुपये ! तुमने कभी मुझसे हिसाब भी न माँगा। मेरी पासबुक भी कभी न देखी !

(कुन्तल उसी तरह फफककर रो रही है।)

माली : उठो, माँ ! माँ···! भैया, मैं इसी दिन के लिए डर रहा था।

(उसी क्षण पृष्ठभूमि से प्रेस-वर्कर्स के जुलूस की आवाज़ आने लगती है।)

माली : जुलूस आ रहा है !

आवाज़ : (नारे लग रहे हैं :) जयदेव···हाय-हाय ! अपना बोनस···लेके रहेंगे। जयदेव···मुर्दाबाद !

कुन्तल : (सहसा जाग उठती है) नहीं, बन्द करो यह आवाज़। प्रेस-वर्कर्स का जुलूस मेरे घर पर आ रहा है ! (उत्तेजित) माली बाबा !

(जुलूस का कोलाहल समीप पहुँचता है।)

आवाज़ : (नारे लग रहे हैं :) अपना बोनस···लेके रहेंगे···लेके

रहेंगे ! हमारी माँगें पूरी हों···पूरी हों ! इंकलाब··· जिन्दाबाद !

(कुन्तल बाहर भाग रही थी, तभी जयदेव बोलता है :)

जयदेव : रुको, कुन्तल ! मेरी कसम, अगर तुम यहाँ से आगे बढ़ीं !

(जयदेव भीतर दौड़ता है। जुलूस का कोलाहल बढ़ गया है।)

कुन्तल : जय, मुझे देर हो रही है। मुझे जाना है, जय !

(जयदेव दौड़कर जाता है।)

जयदेव : यह लो मेरी पासबुक।

कुन्तल : क्या करूँ मैं इसे !

जयदेव : देख लो इसे !

(कुन्तल पासबुक देखती है। और उसके हाथ से वह फर्श पर गिर जाती है।)

कुन्तल : तुम्हारे पास तो एक भी रुपया नहीं ? पचहत्तर हजार का वह 'बैंक-बैलेंस' खत्म !

जयदेव : हाँ, मैं धीरे-धीरे सब हार गया।

(कुन्तल और माली दोनों जयदेव को देखते ही रह जाते हैं।)

जयदेव : कुन्तल ! सुनो कुन्तल !

कुन्तल : माली बाबा ! मेरे आँचल में केसर का वह पुष्प डालो !

(माली फुलवारी में दौड़ता है।)

कुन्तल : मेरे निर्धन जय ! काश, तुम सदा इतने ही ईमानदार होते !···इस तरह भटकते नहीं। पर अब तो बहुत देर हो रही है ! जुलूस करीब आ गया···मुझे जाना है !

जयदेव : नहीं-नहीं, तुम यहाँ से बाहर नहीं जाओगी !

(माली केसर का पुष्प लाता है। कुन्तल उसे आँचल में बाँध लेती है।)



कुन्तल : केसर का यह पुष्प मेरा साथ देगा ! मैं अकेली इस जुलूस में नहीं जा रही हूँ···मेरे पास एक बहुत बड़ी ताकत है।

(कुन्तल जाने लगती है। जयदेव रोकता है।)

जयदेव : नहीं-नहीं ! तुम मत जाओ उस जुलूस के सामने !

कुन्तल : मुझे जाना है ! माली बाबा, तुम यहाँ से हटना नहीं, जय को देखना···मैं तुम्हें सौंपकर जा रही हूँ।

(तेजी से कुन्तल निकल जाती है। जुलूस का शोर पूरे वातावरण में छा गया है।)

जयदेव : माली ! कोई कुन्तल को पुकार रहा है उस भीड़ में।

(जयदेव जाने लगता है।)

माली : (रोक लेता है) नहीं, माँ ने मना किया है।

(जुलूस का शोर···नारे बुलन्द हो रहे हैं।)

जयदेव : मुझे जाने दो माली ! कुन्तल भीड़ में घिर गयी है ! पुलिस लाठी-चार्ज कर रही है !

(बाहर से दौड़ा हुआ निरंजन आता है।)

निरंजन : (पुकारता हुआ) कुन्तल···कुन्तल ! कुन्तल इधर नहीं आयी ?

जयदेव : नहीं···।

(निरंजन बाहर भागता है। उसी के पीछे-पीछे माली भी बाहर भागता है।)

माली : (जाते-जाते) मेरी और माँ की सौगन्ध, तुम भैया, यहीं रहना !

(मंच पर अकेला जयदेव है। पृष्ठभूमि का सारा शोर बढ़ते-बढ़ते सहसा टूट जाता है। उस शान्ति में माली की पुकार आ रही है—माँ···माँ···!

एकाएक फिर शोर होने लगता है। धीरे-धीरे शान्त

होता है। अकेला माली दौड़ आता है।)

माली : अकेली माँ ने सारी चोट सह ली! पुलिस की लाठियों के बीच मेरी माँ हाथ उठाए दौड़ी चली जा रही थीं। पीछे-पीछे वही निरंजन बाबू माँ की रक्षा करते हुए। एकाएक न जाने कहाँ से एक पत्थर मेरी माँ के सिर पर लगा।

(माली रो पड़ता है। घायल कुन्तल को अपनी बाँहों में उठाए हुए निरंजन का प्रवेश। पीछे-पीछे प्रेस के वही कुछ लोग—दुःखी माथा झुकाए हुए आते हैं। निरंजन सम्हालकर कुन्तल को दीवान पर लिटा देता है। सारा दृश्य निस्तब्ध है।)

जयदेव : कुन्तल!

निरंजन : घबराइए नहीं! हॉस्पिटल को टेलीफोन हो गया है··· एम्बुलेंस आ रही है!

जयदेव : (प्रेस के उन्हीं लोगों से) तुम लोगों का मेरी कुन्तल ने क्या बिगाड़ा था?

(प्रेस के लोग मूर्तिवत् खड़े हैं।)

माली : (सहसा) माँ को होश आ रहा है!···माँ!

(कुन्तल उठने लगती है। माली पीछे से सम्हाल लेता है।)

माली : उठो नहीं, माँ!

कुन्तल : माली बाबा···मुझे उठने दो! मैं आज अपने-आप को देखना चाहती हूँ।

(कुन्तल को माली ने सहारा दे रखा है। कुन्तल दीवान पर बैठी जयदेव और निरंजन को देखती है।)

कुन्तल : चोट सिर्फ मेरे माथे पर ही है···!

निरंजन : कुन्तल, बोलो नहीं!

कुन्तल : केसर का फूल मेरे आंचल में बँधा है!

(पर्दा गिरता है।)

●●●